भागवत दर्शन, खण्ड ७४ ~

भागवत दर्शन

खण्ड ७४

गीतावार्त्ता (६)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

★

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:संशोधित मूल्य २-०० रुपया

प्रथम संस्करण १००० प्रति	फाल्गुन २०२६	मू० १.६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्ति उपदेश लिखते थे। उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अंग्रेजी में छप चुके हैं। यह छोटी-सी पुस्तक बहुत ही उपादेह है। इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं। इसे हम फिर से छाप रहे हैं। मूल्य लगभग ३० पैसे।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम

(सहस्र दोहा भाष्य सहित)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वद्जनों के हाथों में पहुँची, लोगो ने पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये। पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जी इसी प्रकार 'श्रीविष्णु सहस्र नाम' को भी लिख दीजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के ऊपर एक-एक दोहा भी बना दिया। इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनों बन गये। प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते है उसे कथा में सुनाते हैं उसका वर्णन इस परिचय सूचना-पत्र में करना असम्भव है। शीघ्र ही छपकर तैयार हो रही है। पत्र लिखकर अपनी प्रति सुरक्षित करालें।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

अपनी निजी चर्चा

[५]

अहो अमीषां किमकारि शोभनम् ।
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ॥
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे ।
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥*

(श्रीमद्भाग० ५ स्क० १९ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

धन्य धन्य ते जीव जनम जिनि भारत लीन्हों ।
तिनि बड़ भागिनि पुन्य पूर्व जनमनि का कीन्हों ?
भये जहाँ अवतार कर्‌यो जिनि पावन सब जग ।
गंगा जमुना जहाँ पुन्यप्रद तीरथ पग पग ॥
जो जा धरम सुदेश में, जनमि धरम तें विमुख हैं ।
ते पापी पामर परम, नीच नारकी अधम हैं ॥

---

* भारतवर्ष में जन्म लेने वालों की प्रशंसा करते हुए देवता कह रहे हैं—अहा ! जिन जीवो ने भारतवर्ष में जन्म लेकर भगवान् मुकुन्द की सेवा के उपयोगी शरीर धारण किया है, उन लोगों ने पूर्व जन्म में ऐसा कौन-सा भारी पुण्यकर्म किया है, अथवा स्वयं श्रीहरि ने उन पर प्रसन्न होकर उन्हें भारत में जन्म लेने का परम सौभाग्य प्रदान किया है, जिस परम सौभाग्य के लिये हम स्वर्गीय देवतागण भी सदा तरसते रहते हैं ।

हमारा यह भारत देश धर्म प्रधान देश है। यहाँ के समस्त समाज ने एक स्वर से धर्म को सर्वोपरि मान लिया था। तभी तो यहाँ के प्रत्येक कार्य में धर्म का संपुट लगा हुआ है। यहाँ के मेला, पर्व, उत्सव, संस्कार, खान पान, व्यवहार, खेल क्रीड़ा, साहित्य, संगीत तथा जीवनोपयोगी प्रत्येक कार्य के साथ धर्म संलग्न है। किसी भी मेला पर्व को ले लीजिये। उसका सम्बन्ध किसी ऋषि, मुनि, संत महात्मा या अवतार से अवश्य होगा। किसी त्योहार वार, व्रत उपवास के साथ कोई धार्मिक कृत्य अावश्य जुटा हुआ होगा। किसी संस्कार के साथ पूजन पाठ दान धर्म का सम्बन्ध अवश्य होगा। भारतीयों का जीवन धर्म के साथ ओत-प्रोत था। हम जो भी करते हैं, धर्म के लिये करते है, प्रभु पूजा के ही निमित्त करते है। इसीलिये हम प्रातः काल उठते ही भगवान् से शैया पर हो प्रार्थना करते हैं—

प्रातः प्रभृत्ति सायान्तं सायान्हात् प्रातरं ततः।
यत् करोमि जगन्नाथः तदेव तव पूजनम्॥

प्रभो! हम प्रात: काल से लेकर सायंकाल पर्यन्त और सायंकाल से लेकर प्रातः काल पर्यन्त जो भी कुछ कार्य करें, वह सब तुम्हारी पूजा के ही निमित्त हो। अन्य मजहबों में तो व्यवहार पृथक् होते हैं, धार्मिक कृत्य पृथक् होते हैं। उनकी उपासना पद्धति पृथक् है व्यवहारिक कार्य पृथक् है। अमुक समय या अमुक वार को प्रार्थना मन्दिर में जाकर सामूहिक प्रार्थना कर ली या कोई धार्मिक विधि कर ली। उसी से उनकी धार्मिक क्रिया सम्पन्न हो गयी, किन्तु हमारे यहाँ तो समस्त कार्य धर्म में ही सम्मिलित हैं। यहाँ तक कि शौच, स्नान, दन्त-धावन, हाथ मलना, जप, तप, पूजा पाठ, आजीविकोपार्जन की

वृत्ति, सोना, उठना, आचमन, विवाह, गर्भाधान, उपनयन समावर्तन सबके सब धर्म के अंग हैं। इसीलिये आज से डेढ़ दो सहस्र वर्ष पूर्व धार्मिक व्यक्ति का अर्थ होता था भारतीय। भारतवर्ष के ही लोग धर्म वाले कहे जाते थे, शेष सब धर्म से रहित या धर्म से अनभिज्ञ वनवासी जंगली माने जाते थे।

भारत के धर्म की प्रशंसा सुनकर दूसरे देशों के बड़े-बड़े शूरवीर यहाँ आते थे और थोड़े ही दिनों में इस देश के जीवन में घुल मिल जाते थे।

हमारे देश की श्रेष्ठता कल कारखानों के कारण, तकनीकी कार्यो के कारण नहीं है। यह देश तो धर्म सदाचार, संस्कृति, योगाभ्यास तथा अन्य आध्यात्मिक कार्यों के कारण संसार का सिरमोर बना हुआ था। बौद्ध धर्म ने तथा वंष्णव धर्म ने ऐसिया भर में ही नहीं योरोप के भी सभी देशों में धर्म का प्रचार प्रसार किया था। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण रूस, अमेरिका तथा अन्यान्य देशों में भूमि के नीचे से निकले मन्दिर, विष्णु तथा बुद्ध की मूर्तिया और हवन कुंड आदि हैं। यदि हमारा देश धर्म प्रधान न होता, तो जैसे अन्य बहुत से देशों को संस्कृतियाँ जातियाँ आचार विचार नष्ट हो गये है, इस देश का भी सर्वस्व नष्ट हो जाता। अब तक जो हिन्दु जाति को इतने वर्षो के पश्चात् भी जीवित रखा है, वह हमारी धार्मिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

समय के प्रभाव से, घटना चक्र से, भाग्य की विडम्बना से अपनी अकर्मण्यता, उदासीनता, परस्पर की फूट के कारण या धर्म में ढांग आ जाने के कारण हम अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे। विधर्मी तथा विदेशियां के दास बन गये। लगभग डेढ़ हजार वर्ष की दासता के कारण चाहिये तो यह था, कि हम शासकों

की संस्कृति में घुल मिल जाते, किन्तु इस धर्म के आग्रह ने अभी तक हमारा धार्मिक पृथक् अस्तित्व बनाये रखा।

हमें आशा थी, स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर हम पुनः अपनी प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान करेंगे। पुनः चरक, सुश्रुत वाग्भट्ट आदि ग्रन्थों के आधार पर अपनी चिकित्सा पद्धति चालू कर देंगे। काष्ठादि औषधियों से बनी सात्विक, सुवर्ण रौप्य, ताम्र, पारा आदि धातुओं से बनी राजस् रसायनों, तथा चीड़फाड़ द्वारा सूची शल्यादि चिकित्सा द्वारा संसार को चकित तथा सुखी बना देंगे। अपने प्राचनी आचार-विचार, खान पान, वर्णाश्रम धर्म, भक्ति, दर्शन वेद वेदाङ्गों द्वारा भारतीयता का प्रचार करेंगे। दस्युधर्मीय विधर्मी लुटेरों द्वारा जो हमारे उपासना गृह नष्ट किये गये है, उन सबका हम पुनः जीर्णोद्धार करेंगे। अपने नष्ट हुए, लुप्त हुए तीर्थों को पुनः जागृत करके हम पुनः संसार में धर्म जगत् गुरु के पद पर प्रतिष्ठित होंगे। हम अवश्य हो सकते थे, जब के स्वराज्य प्राप्त होते ही हम तत्काल इसी दिशा में अपना कार्य आरम्भ कर देते। स्वराज्य होते ही हिन्दु धर्म की मानबिंदु गौ का वध बन्द कर देते। उसी दिन से विदेशी भाषा के स्थान पर कानून से स्वदेशी भाषा का प्रचलन कर देते, भारतीयता की वृद्धि करने वाली समस्त विधियों को चालू कर देते। जैसा कि इजरायल वाले यहूदियों ने किया था। यहूदियों का कोई राष्ट्र नहीं था। उनकी भाषा छिन्न-भिन्न हो गयी थी। यहूदी, विविध देशों में जा बसे थे और उन-उन देशों की भाषा बोलने चालने लगे थे। सब लोग यही समझते थे, कि यहूदियों का तो थोड़े दिनों में नाम निशान ही मिट जायगा। किन्तु भगवान् ने उन पर कृपा की। लड़-झगड़कर उन्होंने अपना एक 'इजरायल' राष्ट्र बना लिया। भिन्न-भिन्न देशों में इतस्ततः बिखरे

हुए यहूदी उस राष्ट्र में आकर बसने लगे। वे कोई अरब दो अरब करोड़ दो करोड़ नहीं थे। सब मिलाकर कुछ लाख की संख्या में थे। आते ही उन्होंने अपनी पुरानी भाषा को राजभाषा घोषित किया। पुराने तीर्थों को अपनाया। पुराने धर्म की प्रतिष्ठा की। हमारे देखते ही देखते। कुल इन्हीं १०।१५ वर्षों में आज वह संसार में एक सबल राष्ट्र के नाम से विख्यात हो गया है। अपने से संख्या में पचास गुने अरब राष्ट्रों के साथ लोहा ले रहा है। स्वेज नहर पर उसने अधिकार जमा लिये। सब मिलकर बीसों अरब राष्ट्र उसके कारण चिंतित हैं। इजरायलियों में आत्म सम्मान जागृत हो गया है। अभी हाल में एक इजरायली नेता ने कहा था—"हमारे पूर्व में अरब हैं, हमारे पश्चिम में अरब हैं, हमारे दक्षिण में अरब है और हमारे उत्तर में अरब हैं। भगवान् उन अरब राज्यों का कल्याण करें, इन शब्दों में कितना आत्म विश्वास तथा दृढ़ता है। हम भी स्वराज्य मिलने के पश्चात् ऐसे शक्तिशाली हो सकते थे, यदि हम अपनी संस्कृति को न छोड़ते। हम अपने को भारतीय बनने मे ही गौरव का अनुभवन करते तो। किन्तु हम तो पूरे नक्काल बन गये। हम तो काले होने पर भी अपने को अँगरेज कहलाने में गौरवान्वित होने लगे। हम अपने आचार विचार, वेष भूषा भाषा सभी को तिलाञ्जलि देकर पश्चिमीय सभ्यता का पुजारी बनने में ही गौरव का अनुभव करने लगे। फिर कोई हमें जगत्गुरु क्यों मानने लगा। यदि हम अपने को भारतीय कह कर भारतीय धर्म का प्रचार प्रसार करने में जुट जाते, तो अधिक नहीं तो श्रीलंका, मलेशिया, जावा, सुमात्रा जापान आदि ऐसीयायी देशों को तो अपने में मिला ही सकते थे।

एक पर्यटक ने बताया कि मलेशिया वालों ने जब सुना

कि स्वतन्त्र भारत का भारतीय दूत हमारे देश में आ रहा है, तो वहाँ के लोग बुद्ध भगवान् के देश के राजदूत के स्वागतार्थ भारतीय विधि से एकत्रित हुए। वे फूल माला, अक्षत, धूप, दीप, नारियल लेकर पुरोहितों के साथ वायुयान स्थल पर आये। चौक पूरकर, कलश रखकर बन्दनवार बाँधकर खड़े हुए, कन्यायें माला लेकर खड़ी हुईं। उनका अनुमान था कोई काशी के पंडितों की भाँति संस्कृत का विद्वान् पगड़ी पहिने उतरेगा। हम उस बुद्ध भगवान् के देश के राजदूत का भारतीय ढङ्ग से स्वागत सत्कार करेंगे, किन्तु वायुयान आने पर उनकी आशाओं पर तुषारापात हुआ। वायुयान से कोट बूट-सूट में सुसज्जित, अँगरेजी टोप लगाये, मुख में मोटी चुरट दबाये, दो बड़े-बड़े अंगरेजी कुत्तों को जंजीर हाथ में थामे एक नकली अँगरेज उतर रहा है। वह अँगरेजी ढँग से हाथ मिलाता है। उन लोगों को बड़ा आक्रोश हुआ और दुखी होकर वे जैसे आये थे वैसे ही बिना स्वागत सत्कार किये लौट गये।

ऐसा ही एक प्रसंग सैकड़ों देशों का द्विचक्री (साइकिल) पर भ्रमण करने वाले मिश्रीलाल जायसवाल ने मुझे सुनाया था। तब वे जर्मनी में थे। अपनी आँखों देखी बात सुना रहे थे।

जर्मनी वाले अपने को आर्य कहते हैं। संस्कृत भाषा का जितना प्रसार-प्रचार जर्मनी में है, उतना भारत में भी नहीं। सबसे पहिले वेद जर्मनी में ही छपे। संस्कृत के जितने दुर्लभ ग्रन्थ जर्मनी में हैं उतने स्यात् किसी भी देश में नहीं। वहाँ के संस्कृत के विद्वान मैक्समूलर अपने हस्ताक्षर देवनागरी लिपि में 'मोक्ष-मूलर भट्ट' के नाम से करते थे। संसार में स्यात् वही एक देश है जो आकाशवाणी से प्रतिदिन संस्कृत में अपना कार्यक्रम प्रसारित करता है।

वहाँ लोगों ने जब सुना भारत से कोई राजदूत चतुर्वेदी यहाँ आ रहे हैं, तो उन्हें बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। सहस्त्रों स्त्री पुरुष उनके सत्कार के लिये वायुयान स्थल पर आये। चार वेदों के प्रतीक चार स्तम्भ बनाये गये। संस्कृत के सभी विद्वान जुटे चार कन्यायें जो संस्कृत में भाषण कर सकती थीं। चार मालायें लेकर खड़ी हुईं। उन लोगों की कल्पना थी, चतुर्वेदी जी चारों वेदों के ज्ञाता होंगे, काशी के पंड़ितों की भाँति पगडी बाँधे, अंगरखी धोती पहिने गले में दुपट्टा डाले आवेंगे। जब उन्होंने देखा चतुर्वेदी जो तो सूटेट बूटेट अपटूडेट नकली अँगरेज बने हल्लो-हल्लो करते हुए अपने टोप को हाथ में लिये उतरे, तो उनका सब उत्साह भंग हो गये। एक विद्वान् ने बढ़कर संस्कृत में कुछ प्रश्न किया। चतुर्वेदो जी ने अँगरेजी में उत्तर दिया—"मैं संस्कृत नहीं जानता।"

तब तो उनको बड़ा आक्रोश हुआ, बिना ही स्वागत् सत्कार किये वे सबके सब लौट गये। उनके निवास के लिये उन्होंने बहुत ही उच्चश्रेणी के विश्रामालय (होटल) में प्रबन्ध किया था, वहाँ भी उन्हें नहीं ले गये। तब मिश्रीलाल जी कहते थे—"हम कुछ भारतीय उन्हें किसी साधारण विश्रामालय में ले गये।" यह परिणाम होता है अपनी भाषा संस्कृति का परित्याग करने वाले देश का। रूस वालों ने भारत की राजदूता के परिचय पत्र को इसीलिये लौटा दिया था कि वह भारतीय भाषा में न होकर अंगरेजी में था। जब हिन्दी में दिया गया तब भी उन्होंने उसमें कई अशुद्धियाँ बताकर शुद्ध करने को लौटा दिया। यह तो है हमारे देश की मनोवृत्ति। अपने धर्म पर अपने तीर्थों पर या तीर्थ यात्रियों पर कोई आपत्ति-विपत्ति आ जाय, तो सरकार के कानों पर जूं तक नहीं रेंगती, किन्तु पर धर्मियों के सम्मेलनों

में न बुलाने पर भी आग्रह पूर्वक जायेंगे। और वहाँ जाकर महान् तिरस्कार सहेंगे। दो कौड़ी के देशों के सामने जो जन संख्या में हमारे वम्वई कलकत्ता कानपुर की भी बराबर नहीं हैं, उनके द्वारा घोर अपमान सहकर भी पश्चात्ताप न करेंगे। जिस देश का कोई धर्म नहीं, संस्कृति नहीं प्राचीन परम्परा नहीं, कोई भाषा नहीं वह देश क्या उन्नति करेगा। अमेरिका के किसी विद्वान् ने जापान के राजदूत को ट्रांजिस्टर निर्माता देश का राजदूत कहा था। इसे सुनकर वह लज्जित हुआ चुप हो गया। उसने सोचा-हमारी अपनी कोई निजी परम्परा नहीं है। पहिले चीन, जापान, बौद्ध देश थे अब चीन ने तो सर्वथा ही, जापान ने आंशिक रूप से बौद्ध धर्म से अपना हाथ खींच लिया। अरे, मैं तो बहक गया, किस धारा में बह गये। मुझे तो अपनी तीर्थ यात्रा रेल की बात बतानी थी कहाँ मे अमेरिका, चीन, जापान, जर्मनी, रूस इजरायल, रबात और मलेशिया की बातें करने लगा भूल ही गया। पाठक पाठिकायें इस "गंगा जी की गैल में मदार की गीत" वाली लोकोक्ति के लिये क्षमा चाहता हूँ, मै अपने अप्रसंगिक सम्बन्धी शब्दों को वापिस लेता हूँ। हाँ, तो अब हमारी ग़ाड़ी की आगे की चर्चा सुनें।

हाँ, तो तुम्हारा रामजी भला करें। हमारी गाड़ी तो नासिक से नहीं आई, एक-एक दो-दो डिब्बे करके हमारे सभी लगभग ७०० यात्री आ गये। हमारे यात्रियों में अधिकाश वृद्ध स्त्री पुरुष थे। वृद्धावस्था में ही धर्म सूझता है, वृद्धों से सभी लोग घृणा करने लगते हैं। जो स्त्रियां कुछ खर प्रकृति की तेज तर्रार लड़ाकू होती हैं, जो बहुओं को बात-बात पर टोक्ती तथा डाँटती डपटती रहती हैं। बहुएं चाहती हैं—"यह बुढ़िया दो चार महीने को कहीं टल जाय।" तीर्थ यात्रा का प्रसंग आने पर अपने पतियों से कहकर

उनकी टिकट और मार्ग व्यय का प्रबन्ध करा देती हैं। बहुत-सी बुढ़ियां तो ऐसी थी, जिन्हे बिना लड़े चैन ही नही पड़ता था, भोजन ही नहीं पचता था। बूढ़े प्रायः ऐसे थे जो एक-एक पैसे का हिसाब रखते। रुपये दो रुपये के लिये मूड़फुड़ौअल करते।

गाडी के भंग हो जाने पर अनेक प्रकार की प्रतिक्रियायें हुईं। जो शीघ्र लौट जाना चाहते थे, वे हमारे व्यवस्थापक से लड़ते"—हमारे रुपये वापिस करो, हम दूसरी गाड़ी से चले जायंगे।" रुपये तो पहिले ही ३।४ लाख रेलवे वालों ने जमा करा लिये। वे वापिस करें, तो रुपये लौटाये जायँ। कोई रोकड़ बांध कर थोड़े ही आया था।

कुछ लोग जो इस बात से दुखी थे, कि कलकत्ते में केवल गाड़ी दो दिन ही ठहरेगी हम क्या देखेंगे। वे प्रसन्न थे। वे चाहते थे, बम्बई में गाड़ी अधिक दिन ठहरे। वे कहते—"आप हमारी तरफ से तो निश्चिन्त रहें, जब गाड़ी चलेगी तभी चलेंगे आप प्रयत्न करें।"

कुछ लोग बिना ही किराये की वपिसी की माँग किये हुए अपना बोरिया बिस्तरा लेकर अपने-अपने घर लौट गये। कोई सरकार को कोसने लगे। नियम कानून बताने लगे। राजनैतिक दल वाले नेताओं को अपनी दुर्दशा दिखाने को ले आये। कोई समाचार पत्रों के संवाददाताओ को फोटो लेने वालों को बुला लाये। समाचार पत्र वालों ने सरकार के इस रवैया की कड़ी आलोचना की। पत्रों में वृत्त छपने लगे फोटो निकलने लगे।

मुझे बड़ी चिन्ता थी, मुझे गोपाष्टमी से वृन्दावन के अपने गोलोक में अनशन पर बैठना था, उसमें ५-६ ही दिन शेष रह गये थे, इसी बीच गुजरात का भी दौरा करना था। गाड़ी को तो अभी लगभग एक महीना और घूमना था, बीच में ही यह आफत आ

गयी। हम अपने बन्धु सुप्रसिद्ध उद्योग पति सेठ गजाधर जी सोमाणी के घर गये। वहां से रेलवे मंत्री से दूर भास से बातें की। तत्कालीन रेल मंत्री पाटिल जी बंबई के ही हैं। वे बोले— रेल हमने बन्द नहीं की है। गृहमंत्रालय के आदेश से बन्द हुई है। अब उसकी आशा न रखें। फिर सोमाणी जी से बोले— "आप इन जनसंघियों के चक्कर में न पड़े। नहीं आपके लिये अच्छा न होगा।"

हँसकर सोमाणी जी ने कहा—"हमारे लिये अच्छा होगा, कि बुरा यह तो पीछे की बात है। पीछे देखा जायगा। रेल के लिये आप क्या कहते हैं।"

उन्होने कहा—"हम कुछ नहीं जानते, गृह मंत्री से पूछिये।" इतना कहकर उन्होने धम्म से यत्र मुख को रख दिया।"

सोमाणी जी ने मुझसे कहा—"महाराज, आप अपने कार्यक्रम को भंग न करें, आप मोटरों द्वारा गुजरात का दौरा करके ठीक समय से वृन्दावन न पहुँच जायें, हम लोग यहां हैं ही जो हो सकेगा वह करेंगे। नहीं तो यात्रियों को अपने-अपने घर भिजवाने का प्रयत्न करेंगे।"

मैने उनकी बात मान ली और मैं राजकोट, द्वारका आदि होता हुआ गोपाष्टमो से दो दिन पूर्व अहमदाबाद में आ गया। अहमदाबाद में हमारे वायुयान से तीन स्थान देहली के लिये कार्तिक शुक्ला षष्ठी को सुरक्षित थे। सोचा था षष्ठी की रात्रि में देहली पहुँचेंगे। सप्तमी के प्रातः मोटर से वृन्दावन में जाकर अष्टमो से अनशन पर बैठ जायंगे।

अहमदाबाद में परलोकवासी महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानंद जी महाराज के स्थान में ठहरे। वर्तमान महंत स्वामी सदानंद जी महाराज ने अत्यन्त ही स्नेह प्रदर्शित किया। द्वारका

पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य जी भी आ गये थे। शोभा यात्रा निकली, महती सभा हुई पत्रकार सम्मेलन हुआ और प्रसाद पाकर ज्योंही देहली को चलने को उद्यत हुए त्यों ही हमारे स्वयं सेवकों ने मुझे सूचना दी—"महाराज जी, आप देहली न जायं ?"

मैंने कहा—"क्यों, क्या बात है ?"

उन्होंने कहा—"देहली वालों ने अभी-अभी सूचना भेजी है, कि यहां वायुयान स्थल पर पूरी तैयारियां हैं, ब्रह्मचारीजी के आते ही उन्हें तुरन्त गिरफ्तार कर लिया जायगा।"

मैंने हँसकर कहा—"तो यह कौन सी बात है, सरकार जहां चाहे वहीं गिरफ्तार कर सकती है। "बकरे की मां कब तक कुशल मना सकती है।"

उन्होंने कहा—"नहीं आप देहली न जाकर जयपुर उतर जायँ और वहीं से मोटर द्वारा वृन्दावन चले जायं।"

मैंने कहा—"वायुयान की टिकटें तो देहली की हैं ?"

वे बोले—"कोई चिन्ता की बात नहीं, आप इन्हीं टिकटों से जयपुर उतर जायं, तो कोई मना थोड़े ही करेगा और फिर हम टिकट बदलवाने का भी प्रयत्न करेंगे।"

हमारे स्वयंसेवकों में अत्यन्त उत्साह था। वे सब कुछ करने को उद्यत थे। कुछ तो हमें लेकर वायुयान स्थल पर गये। कुछ टिकटों की धुनाबुनी में लग गये।

वायुयान के छूटने के कुछ ही समय पूर्व प्रान्त प्रचारक मेरे पास पहुँचे और बोले—"महाराज ! टिकटें जयपुर की बन गयीं। हमने जयपुर सूचना भी दे दी। जयपुर में लोग आपको उतार लेंगे। वे सब प्रबन्ध करेंगे।"

सबसे स्नेहभरित हृदय से विदा लेकर, सबके स्नेह अनुराग

को सँजोये हुए हम वायुवान पर चढ़ गये। जहाँ-जहाँ भी गये, स्वयंसेवकों ने बड़े उत्साह उल्लास और सतर्कता से शोभायात्रा, सभाओं प्रेस सम्मेलनों, गोष्ठियों आदि का प्रबन्ध किया। सभी प्रान्त के स्वयं सेवकों ने मुझे प्रेम में न्हिला दिया। सुदूर प्रदेशों में अपने सगे सम्बन्धी परम आत्मीयजनों की भाँति मेरी देख-रेख करी। मुझे ऐसा लगता था, अब जीवन में इन बन्धुओं का स्नेह पुनः न प्राप्त कर सकूँगा। उन बन्धुओं ने भी अश्रुपूरित लोचनों से मुझे बिदा दी। बात की बात में जयपुर आ गया। भाई हजारीलाल शर्मा के यहाँ ठहरे, पूजा की प्रसाद पाया। प्रेस सवाददाताओं को वक्तव्य दिया। रात्रि के १०-११ बजे एक किराये की मोटर (टैक्सी) से हम वृन्दावन के लिये चल दिये। और गोपाष्टमी से एक दिन पहिले सप्तमी के प्रातः अपने वृन्दावन वंशीवट स्थित संकीर्तन भवन में पहुँच गये। जहाँ पर मेरे साथ अनशन करने के शिये १०।१५ बन्धु भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर ठहरे हुए थे।

पुस्तक का आकार छोटा, कहानी बड़ी तिसपर भी सीमित स्थान। कैसे करूँ, पृथक् ही पुस्तक की आवश्यकता थी, किन्तु भागवत दर्शन, गीतावार्ता लिखने के अतिरिक्त मुझे निजी चर्चा लिखने का अवकाश ही कहाँ। किसी तरह तनिक-तनिक समय निकाल कर जैसे-तैसे एक अध्याय लिख देता हूँ। अब तो अनशन के निकट ही आ गये कल से ही तो अनशन आरम्भ करना है। अब आगे का वृत्तान्त अगले खण्ड में पढ़ें। अब पहिले छटे अध्याय का माहात्म्य सुन लें, तदन्तर गीतावार्ता को पढ़ना प्रारम्भ करदें। यह तो चटनी है, मानसिक भोजन तो गीतावार्ता ही है।

छप्पय

पुन्य भूमि में जनमि करचो नहिँ धरम पुन्य अति।
फिरे कीर्ति हित व्यरथ नहीं हरिचरन कमल रति॥
संत संग नहिँ करयो नहीं मद मान भुलायो।
आस्तिक धी तेँ तीर्थ न कीये समय बितायो॥
बहुत गई थोरी रही, साथी संगी चलि बसे।
हाय! दिवस यों ही नसे, ठाढ़े हम विस्तर कसे॥

गीता माहात्म्य

[६]

गीताया पष्ठाध्यायं योगं चात्मसुसंयमम् ।
ये पठन्ति नराः भक्त्या तेषा सिद्धि र्न संशयः ॥*

(प्र० द० प्र०)

छप्पय

अब छटवें अध्याय महातम तुम्हें सुनाऊँ।
आतम संयम योग पाठ महिमा बतलाऊँ॥
रैक्व प्रशंसा सुनी जानश्रुति नृप हंसनितैं।
खोजि रैक्व ले आउ कही नृप निज सारथि तैं॥
काशमीर में रैक्व मुनि, मिले मुदित सारथि भयो।
दैन सुखद सम्बाद शुभ, सारथि नृप ढिँग चलि दयो॥

जब तक हृदय में विपयों के भोगने की अभिलाषा तथा उन विषयों में सुखानुभूति होती रहती है, तभी तक वह धनिकों की लल्लो-चप्पो करता है, जब प्रारब्ध पर दृढ़ भरोसा हो जाता है और भगवान् के प्रति दृढ़निष्ठा हो जाती है, तब उनकी दृष्टि

---

* श्रीमद्भगवत्गीता का जो आत्मसंयम योग नाम वाला छठा अध्याय है, उसे जो मनुष्य पढ़ते हैं उनको सिद्धि प्राप्त हो जाती है, इसमें तनिक भी संशय नही है ।

धनिकों और निर्धनों में समान हो जाती है। हम धनिकों की चापलूसी क्यों करते हैं ? इसलिये कि हमारा विश्वास है, कि यदि अपने पास एक धन हो तो सभी विषय-भोगजन्य सामग्रियाँ उपलब्ध की जा सकती हैं। धन से सुन्दर सुगन्धित पदार्थ, खाने के षट्रस नाना भाँति के व्यंजन तथा अन्यान्य भी सभी इन्द्रियों के उपभोग के पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। धनिकों के पास बहुत धन है, सम्भव है वे प्रसन्न होकर हमें धन दे दें, तो हमारे सब काम सरलता से सम्पन्न हो सकते हैं। किन्तु यह उनका भ्रम है, धनिक यदि ऐसे ही मनमानी भाँति से धन लुटाते रहते, तो न जाने कबके वे कंगाल बन गये होते। किसी की प्रशंसा करने से दीन बनकर उनके पीछे लगने से किसी को क्षण-भर को कुछ भले ही मिल जाय, किन्तु उससे स्थायी सुख नहीं शान्ति नहीं। यथार्थ शान्ति तो तभी प्राप्त हो सकती है, जब मन से संसारी भोगों की वासना निकाल दी जाय और धनवानों के प्रति जो मिथ्या आदर के भाव हैं उनके प्रति उदासीन हो जाय। जब तक यह भय बना रहेगा, कि हमारे ऐसे आचरण से कहीं धनिक तथा सत्तारूढ़ व्यक्ति अप्रसन्न न हो जायँ, तब तक मनुष्य यथार्थ निर्भय और सुखी नहीं बन सकता।

एक राजा के मुख्य मन्त्री थे। वे बड़े ही कुशल शासक, विद्वान् तथा उचित कार्य करने वाले राजनीतिज्ञ थे। साथ ही वे बड़े धार्मिक तथा शास्त्रीय ज्ञान में निपुण थे। राजा उनका बड़ा आदर करते थे, वे भी राजा का अत्यधिक सम्मान करते थे।

एक दिन मन्त्री ने राजा से निवेदन किया—"श्रीमान् ! मैंने बहुत दिन राजकाज किये अब मैं परमार्थ चिन्तन करना चाहता हूँ।" राजा ने बहुत प्रकार से उन्हें रोकना चाहा, किन्तु वे रुके नहीं। सब कुछ छोड़कर विरक्त बन गये। वे एक लंगोटी मात्र

लगाते, मिट्टी के खप्पर में जो मिल जाता, उसे ही खा लेते और जंगलों में अकेले पड़े रहते। उनके त्याग, वैराग्य तथा ज्ञान की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। बहुत से लोग उनके दर्शनों को आते, और दर्शन करके अपने को कृतार्थ मानते।

राजा ने भी उनकी प्रशंसा सुनी। वे भी उनके दर्शनों को गये। विरक्त मंत्री ने पहिली भाँति उनका उठकर स्वागत सत्कार नहीं किया। वे जैसे पैर फैलाये बैठे थे वैसे ही बैठे रहे। राजा को बहुत बुरा लगा। राजा तो सबसे सर्वदा सत्कार पाने का अभ्यस्त था। आज अपने ही पुराने भूतपूर्व मंत्री का ऐसा अशिष्ट व्यवहार देखकर वह क्षुब्ध हो गया। उसने ऊपर से हँसते हुए पूछा—"मंत्री जी! यह अशिष्टता आपने कब से सीखी?"

विरक्त मंत्री ने कहा—"श्रीमान्! जब से हमने विषय भोगों से उदासीनता और धनिकों से सुख पाने की इच्छा को मन से निकाल दिया है, तभी से हमने मिथ्या आदर और बनावटी शिष्टाचर को त्याग दिया है।" जिसने संहार से वैराग्य धारण कर लिया है, उसके लिये ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं रह जाता। उसके लिये सभी समान बन जाते हैं। उसकी बुद्धि समत्व में स्थिर हो जाती है।" ऐसी समत्व बुद्धि श्री मद्भगवत् गीता के षष्ठ अध्याय को पढ़कर जो अपने जीवन में उतार लेगा उसी को हो सकती है। इसीलिये भगवान् ने गीता जी के छटे अध्याय में कहा है—

> आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
> सुखं वा यदि वा दुःख स योगी परमो मतः॥

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भगवत् गीता के छटे अध्याय का महात्म्य सुनाता हूँ, जिसे शिवजी ने

पार्वती जी को और लक्ष्मी जी के पूछने पर भगवान् विष्णु जी ने सुनाया था।

लक्ष्मी जी ने भगवान् विष्णु से पूछा—"प्राणनाथ! अब आप मुझे श्री मद्भगवत् गीता के छटे अध्याय का माहात्म्य सुनावें।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—"प्रिये! गीता का छटा अध्याय आत्म संयम योग है। इसे जो अपने जीवन में धारण कर लेता है, वह आत्मजयी निर्भय तथा परमशान्ति का अधिकारी हो जाता है, उसे किसी भी प्राणी से भय नहीं होता है। वह सभी में समभाव रखता है, उसके लिये विषय विषवत हो जाते हैं। धनी निर्धन राजा तथा प्रजा सबमें वह ब्रह्म भाव का अनुभव करता है। वह संसार में महान् तेजस्वी हो जाता है। इस सम्बन्ध की जो एक प्राचीन कथा है, उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ, उसको तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।

पुण्यतोया भगवती गोदावरी के परम पावन तट पर प्राचीन काल में प्रतिष्ठानपुरी नाम की एक बड़ी ही समृद्धिशालिनी राजधानी थी। एक प्रतिष्ठानपुर तो गंगा यमुना के पवित्र संगम प्रयागराज के पार चन्द्रवंशी राजाओं की राजधानी (झूसी) है। यह दक्षिण की प्रतिष्ठानपुरी (पैठण) है। जहाँ भगवान् पिप्पलेश नाम से विख्यात हैं। प्राचीन काल में उसी राजधानी में जानश्रुति नाम के एक परम धार्मिक राजा राज्य करते थे। महाराज जानश्रुति अपनी प्रजा का पुत्रवत पालन करते थे। उनके राज्य की प्रजा भी उनके प्रति अत्यन्त स्नेह तथा आदर रखती थी।

वे निरन्तर यज्ञयाग आदि सत्कर्मों में ही लगे रहते थे। उनके यज्ञों का धूम सदा स्वर्ग लोक तक छाया रहता था, उस धूम से स्वर्ग के नन्दनवन के कल्पवृक्षों के लाल पल्लव काले पड़

गये थे। मानों उनकी असह्य कीर्ति और यश के सहन न करने के कारण कृष्णवर्ण के वन गये हों। राजा इतना दान करते थे, कि याचक लोग स्वयं दाता बनकर दान देने लगते थे। वे यज्ञों मे निरन्तर देवताओं को पुरोडास अर्पण किया करते थे, जिससे देवतागण उनकी राजधानी का परित्याग करके अन्यत्र कहीं जाने की इच्छा ही नहीं करते थे। वे इष्टापूर्त, त्याग तथा दक्षिणा आदि में ही अपने धन का सद्व्यय किया करते थे। प्रजा ईति-भीति से सदा बची रहती थी। इन्द्र उनके राज्य में समय से वर्षा करते। वे प्रजा के कल्याणकारी कार्यों में सदा संलग्न रहते। स्थान-स्थान पर वापी, कूप, तड़ाग खुदवाते। प्याऊ लगवाते, फल वाले वृक्षों के बगीचे लगवाते। धर्मशालायें, पाठ-शालायें तथा देवालयों को बनवाते। उनके यश की ख्याति स्वर्ग तक पहुँच गयी थी। देवतागण उनके धर्म कर्मों से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। देवता जानते थे, राजा विषय भोग सम्बन्धी पदार्थों की-फिर चाहें वे इस लोक के हों या स्वर्ग के-मन से भी इच्छा नहीं करते। अतः देवतागण हंस का रूप धारण करके उनके परमार्थ पथ को परिष्कृत करने के विचार से उनके समीप आये। इन्द्र, वरुण, कुवेरादि कई देवताओं ने सुंदर स्वच्छ उज्वल पंख वाले हंसों का रूप रख लिया था। वे आकाश में साथ ही साथ उड़ते हुए आ रहे थे। वे बड़ी उतावली से प्रति-ष्ठानपुर को ही लक्ष्य बनाकर उड़ते आ रहे थे और परस्पर में वार्तालाप भी करते जाते थे। जब वे प्रतिष्ठानपुर के समीप पहुँचे तो राजा को सुनाते हुए पीछे वाले हंसों ने उन आगे वाले हंसों से कहा जो उनसे कुछ आगे-आगे उड़ रहे थे।

पीछे वाले हंसों ने आगे वाले हंसों का नाम लेकर कहा—"अरे, भद्राश्वादि हंसों! इतनी शीघ्रता से तुम क्यों उड़ रहे

हो ? भाई, शनैः-शनैः उड़ो। साथ-साथ उड़ो। तुम देखते नहीं मार्ग अत्यन्त दुरूह है। क्या तुम्हें विदित नहीं यह महाराज जानश्रुति का राज्य है।"

अगले वाले हंसों ने कहा—तो क्या हुआ ? जानश्रुति राजा से हम कुछ कहते तो नहीं हैं ? न उनकी कुछ हानि ही करते हैं।

पिछले वाले हंसों ने कहा—"हानि न भी करो, तो भी ये राजा परम धर्मात्मा हैं। इनका धवल यश दिग्दिगान्तों में व्याप्त है। सम्मुख तुम देख नहीं रहे हो उन पुण्यमूर्ति महाराज जानश्रुति का तेजःपुञ्ज सम्मुख अत्यन्त ही स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। तुमने तनिक भी अवज्ञा का भाव दिखाया, तो यह तेजपुञ्ज तुम्हें भस्म कर देगा। अतः अत्यन्त शिष्टाचार से आदर प्रदर्शित करते हुए शनैः-शनैः उड़ो।"

यह सुनकर आगे वाले हंस हँस पड़े और बोले—"हमने अभी तक किसी तेजस्वी पुरुष को देखा नहीं है क्या ? इस राजा का थोड़ा सा तेज हमें क्या भस्म करेगा ?"

पीछे वाले हंसों ने पूछा—"तुमने इन धर्मात्मा राजा से बढ़-कर दूसरे किसी तेजस्वी पुरुष को देखा हो, तो उसका नाम बताओ ?"

आगे वाले हंसों ने कहा—"हमने तो ब्रह्मवादी महात्मा रैक्व का आध्यात्म्य सम्बन्धी तेज देखा है। उन महात्मा के तेज के सम्मुख इन राजा का तेज क्या है। यथार्थ तेज तो ब्रह्मवादी रैक्व मुनि का ही है।"

ये सब बातें हंस का रूप रखे हुए देवतागण महाराजा जानश्रुति को सुना-सुना कर कह रहे थे, अपने महल की अटारी पर चढ़े हुए महाराजा उनकी बातों को सुन रहे थे। उनके मन में बड़ा कौतूहल हुआ, कि "ब्रह्मज्ञानी महात्मा रैक्व कौन हैं ? उनका

तेज कैसा है ? अवश्य ही मुझे उन परम तेजस्वी महात्मा के दर्शन करने चाहिये।"

हंस तो इस प्रकार बातें करते-करते उड़ते हुए आगे चले गये। महाराज अपनी अटारी से उतर कर राजसभा में आये। उन्होंने अपने मन्त्री, सचिव तथा सभासदों को बुलाया। हंसों के मुख से सुनी हुई सब बातें कही। फिर अपने सचिव सारथी को बुलाकर उससे बोले—"सूत! तुम बुद्धिमान हो, व्यवहार में कुशल हो। मैं महात्मा रैंक का नाम ही जानता हूँ। उसका वासस्थान कहाँ है, वे किस देश को अलंकृत कर रहे हैं, इसे मैं नही जानता। तुम सब देशों में जाकर उन ब्रह्मज्ञानी महात्मा का पता लगाकर मुझे सूचना दो। यदि वे यहाँ आ सकें, तो उन्हें साथ ही यहाँ लेते भी आना।"

राजा के उस सारथी सचिव का नाम मह था। राजा के ऐसे स्निग्ध कोमल वचन सुनकर मह अपने रथ पर सवार होकर महात्मा रैंक को ढूँढ़ने के निमित्त नगर से बाहर निकला। सर्व-प्रथम उसने पूर्व दिशा में मुक्तदायिनी काशीपुरी की यात्रा की, जहाँ भगवान् विश्वनाथ सदा निवास करते हैं, जो पुरी शिवजी के त्रिशूल पर बसी रहने के कारण तीनों लोकों से पृथक् है। काशी म उन्होंने रैंक मुनि को बहुत खोजा किन्तु जब वे वहाँ नहीं मिले तो मह सारथी ओर पूर्व में बढ़कर गया क्षेत्र में पहुँचे, जहाँ भगवान् गदाधर के चरणचिह्न विद्यमान हैं, समस्त लोकों का उद्धार करने के निमित्त भगवान् गदाधर जहाँ सर्वदा निवास करते हैं। जहाँ पितरों को पिंड देने से वे प्रेतयोनि से विमुक्त बन जाते हैं। जब वहाँ भी रैंक मुनि का कुछ पता नहीं मिला, तो वह पूर्व के नाना तीर्थों में भ्रमण करता हुआ तथा मुनि का पता लगाता हुआ ब्रजधाम की मथुरापुरी में पहुँचा। जहाँ श्रीहरि

नित्य ही निवास करते हैं और जो सप्तपुरियों में प्रधान पुरी हैं। जो आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की जन्मभूमि होने के कारण परम पावन है। जहाँ सिद्ध, चारण, गन्धर्व तथा महर्षिगण नित्य ही निवास करते है। यह पुरी कलकल निनादिनी भगवती कालिन्दी के कमनीय किनारे पर बसी हुई है, जहाँ की शोभा निराली है। यमुनाजी के किनारे यह नगरी अर्ध चन्द्राकार ऊँचे टीले पर बसा हुई है। इसके निकट ही गोवर्धन पर्वत है, जो परम पवित्र होने के कारण भगवत्स्वरूप ही माना जाता है।

जब मथुरा में भी रैक्व महामुनि का कुछ भी पता नहीं लगा, तो सारथी उत्तर दिशा की ओर चल दिया। वह पश्चिम और उत्तर दिशा के छोटे-मोटे समस्त राजाओं की राजधानियों में होता हुआ पंचनद आदि देशों को देखता हुआ। हिमालय पर्वत के पुण्य प्रदेश में काश्मीर नामक राजधानी में पहुँचा। यह राज्य परम समृद्ध था। यहाँ के नर नारी गौरवर्ण के अत्यन्त ही सुन्दर थे। गगनचुम्बी महलों की पंक्तियों से सुशोभित काश्मीर नगरी ऐसी लग रही थी मानों भगवान् शिव के अट्टहास की छटा छिटक रही हो। शंख के समान, कुन्द पुष्प के समान, तथा हिम के समान श्वेत वर्ण के भवनों से उस नगरी की शोभा अनुपम थी। इस देश में एक परम धार्मिक राजा राज्य करते थे। वे परम ब्रह्मण्य तथा भगवान् शिवजी के भक्त थे। इस देश के ब्राह्मण परम विद्वान् तथा स्वधर्म परायण कर्मनिष्ठ थे। सभी प्रजा के लोग अपने अधिकारानुसार धर्म कार्यों में निरत रहते। चारों ओर ब्राह्मणगण सस्वर वेदों का वहाँ गान करते। अग्निहोत्र के यज्ञ धूम से व्याप्त आकाशमंडल काले रंग का बन गया था। गगन में कालिमा छा गयी थी। इन्द्रदेव वर्षा करके उस

कालिमा को हटाने का सतत प्रयत्न करते रहते, फिर भी आकाश की नीलिमा गयी नहीं थी। यज्ञों का धूम, उनमें गाये जाने सस्वर वेदों का घोष द्विजातियों के द्वारा किये जाने वाले देवार्चन का कोलाहल सर्वत्र व्याप्त था। दूर-दूर से विद्याध्ययन करने के निमित्त ब्रह्मचारी विद्यार्थी यहाँ आकर गुरुकुलों में गुरुजी के निकट शास्त्रों और वेदों का अध्ययन करते।

इस देश के अधिष्ठातृदेव भगवान् श्री शंकर यहाँ माणिक्येश्वर नाम से विख्यात थे। अपने भक्तों को अभिमत वरदान देने को सदा सर्वदा ही प्रस्तुत रहते। इस देश के राजा का नाम माणिक्येश था। वे बड़े ही शूरवीर प्रतापी कुल परम्परा से आये हुए परम कुलीन राजा थे। उन्होंने अपने बाहुबल द्वारा घूम-घूम कर सभी देशों को जीता था। दिग्विजय करके समस्त राजाओं को करद बना लिया था। जब महाराज सम्पूर्ण देशों को जीत कर–दिग्विजय करके–अपनी राजधानी में लौटकर आ गये, तो इसी के उपलक्ष्य में उन्होंने यहाँ शिवजी का पूजन किया था। तभी से शिवजी का नाम माणिक्येश्वर हो गया था।

सूत नगर में घूमते-घूमते भूतभावन भगवान् माणिक्येश्वर शिवजी के मन्दिर में दर्शनार्थ आये। शिवजी के दर्शन करके ज्यों ही वे मन्दिर से बाहर निकले त्यों ही उन्हें छोटी सी गाड़ी पर बैठे एक साधारण से तेजस्वी पुरुष दिखायी दिये। उनका वेश भूषा साधारण था। वे मैले कुचैले कपड़े पहिने एक पेड़ के नीचे गाड़ी में बैठे-बैठे अपने अंगों को खुजला रहे थे। कुतूहल वश सूत ने नगर निवासी नागरिकों के निकट जाकर इस विचित्र व्यक्ति का परिचय पूछा। तब उन्हें विदित हुआ कि इतने दिन से जिन महात्मा की मैं खोज कर रहा हूँ–ये वे ही रैक्व महामुनि हैं। मुनि का पूर्ण परिचय प्राप्त करके सूत उनके पास गये उनको

साष्टांग प्रणाम करके, बड़ी ही नम्रता से उन्होंने उनसे पूछा— "ब्रह्मन् ! आपका निवास कहाँ है ? आपका शुभ नाम क्या है ? आप यहाँ इतनी भीड़-भाड़ में क्यों ठहरे हैं।"

रैक्वमुनि ने कहा—"सर्वत्र हमारा स्थान है। हम सदा स्वेच्छा से स्वच्छन्द विचरते रहते हैं सब लोग हमें रैक कह कर पुकारते हैं।"

सूत ने कहा—ब्रह्मन् ! मैं प्रतिष्ठानपुर के जानश्रुति नाम के राजा का सूत हूँ। मेरे स्वामी आपके दर्शनों के निमित्त अत्यन्त ही उत्सुक हैं। यदि आप कृपा करके मेरे स्वामी को प्रतिष्ठानपुर पधार कर दर्शन दें, तो वे कृतार्थ हो जायँगे।

यह सुनकर रैक्वमुनि ने कहा—"सूतजी ! जो त्यागी विरागी हैं, उन्हें धनिकों के द्वार पर जाने के दो ही प्रयोजन हैं, या तो उन्हें मीठा खाने की लालसा हो, या पद, प्रतिष्ठा, पैसा पृथ्वी की आकांक्षा हो। हम तो पूर्णकाम हैं। हमारी समस्त कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं। हमें किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। जब हमें किसी विषय की स्पृहा या इच्छा ही नहीं तो किसी के पास किस लिये जायँ ? फिर भी कोई यहाँ आकर हमारी मनोवृत्ति के अनुसार परिचर्या कर सकता है।"

सारथी ने रैक का मनोगत भाव जान लिया, वे चुपके से राजा के समीप चल दिये। कुछ ही दिनों में वे महाराज जानश्रुति के निकट प्रतिष्ठानपुर में पहुँच गये। वहाँ जाकर उन्होंने राजा को आदि से अन्त तक सभी समाचार सुना दिये। रैक मुनि का पता लग गया, यह जानकर राजा को परम प्रसन्नता हुई। वे परम विस्मित तथा चकित होकर सूत से बारम्बार रैक मुनि के ही सम्बन्ध में भाँति-भाँति के प्रश्न करने लगे। जब उनका पूर्णरीत्या समाधान हो गया, तब उनके मन में महा-

मुनि रैंक की सेवा करने की इच्छा हुई। ऐसे महामुनि की जो भी सेवा की जाय, वही न्यून है। सूत से उन्होंने सुन ही लिया था, वे एक छोटी-सी एक बैल की पुरानी गाड़ी पर बैठे थे। अतः राजा मुनि के लिये एक बहुत ही सुन्दर गाड़ी रैंक मुनि के लिये ली जिसमें बहुत ही बलवती दो अच्छी जाति की खच्चरियाँ जुती थी। इसके अतिरिक्त मणि माणिक्य तथा मोतियों के सुंदर-सुदर हार सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषण और दूध वाली एक सहस्र गौएँ भी मुनि को अर्पण करने को अपने साथ में लीं। इन सब सामग्रियां के सहित मन्त्री पुरोहित, सचिव सारथियों से घिरे हुए राजा चलकर कुछ ही दिनों में काश्मीर राज्य में पहुँच गये और जहाँ रैंक मुनि रहते थे, उस स्थान में पहुँचकर गाडी में बैठे हुए अंगों को खुजाते हुए मुनि के दर्शन किये। राजा ने मुनि को देखकर बडी श्रद्धाभक्ति के साथ उन्हें साष्टांग-प्रणाम किया तथा भेंट की समस्त सामग्री मुनि को अर्पण की।

इस पर रैंक मुनि राजा पर कुछ कुपित हुए और बोले—"राजन्! तुम परमार्थ पथ से अनभिज्ञ हो। तुम विषय सुखों को ही सब कुछ समझते हो, इससे शूद्र हो। तुम मुझे इन नश्वर वस्तुओं का लालच देना चाहते हो? अपनी सुन्दर ऊँची वेग से चलने वाली गाड़ी को, मणिमुक्ताओं के हारों को, वस्त्राभूषणों को तथा गौओं को ले जाओ। मुझे इन वस्तुओं की तनिक भी अभिलाषा नहीं।"

यह सुनकर महाराज जानश्रुति मुनि के शाप से भयभीत होकर दुखी हुए। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के साथ मुनि के चरण पकड़ लिये और अत्यंत ही विनीत भाव से बोले—"ब्रह्मन्! आपका त्याग वैराग्य धन्य है। संसारी भोगों की स्पृहा न होना यह वृत्ति बड़े भाग्य से पूर्वजन्म के अनेकों सुकृतों से होती है।

महात्मन् ! आप मुझ-अज्ञानी पर असन्तुष्ट न हों। मेरे अपराधों को क्षमा करके मुझ पर प्रसन्न हो जायं और यह बताने की कृपा करें, कि आप में ऐसा अलौकिक त्याग, ऐसा महान् वैराग्य, ऐसी निस्पृहता किस उपासना के कारण आई है। ऐसा अत्यद्भुत माहात्म्य किस मन्त्र के द्वारा प्राप्त हुआ है।

राजा के ऐसे विनीत तथा श्रद्धाभक्ति पूर्ण वचन सुनकर महामुनि रैक्व प्रसन्न हुए। राजा को अधिकारी समझकर वे बोले—"राजन् ! मेरी तो एक ही उपासना है। मैं प्रतिदिन श्रद्धाभक्ति के साथ श्रीमद्भगवत्गीता के छटे अध्याय का प्रेम-पूर्वक पाठ करता हूँ, उसके अर्थों का मनन करता हूँ और उसे अपने जीवन में परिणत करने का सतत प्रयत्न करता हूँ। उसी के प्रभाव से मेरी तेजोराशि देवताओं के लिये भी असह्य है। राजन् ! गीता का छठा अध्याय आत्मसंयम योग है। जिसने आत्मसयम कर लिया उसके लिये त्याग, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति कुछ भी दुर्लभ नहीं।"

यह सुन कर राजा जानश्रुति ने गद्‌गद कंठ से कहा—"ब्रह्मन् ! गीता के छटे अध्याय का मुझे रहस्य समझा दें। यदि आप मुझे अधिकारी समझते हों तो उसका अभ्यास करा दें।"

भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी से कह रहे हैं—"हे शोभने ! जब राजा जानश्रुति ने महामुनि रैक्व से ऐसी प्रार्थना की तो मुनि ने भी उन्हें उत्तम अधिकारी समझकर गीता के छटे अध्याय का उपदेश किया, विधिवत उन्हें अध्ययन कराया गीता के छटे अध्याय का रहस्य समझकर महाराज जानुश्रुति कृतार्थ हो गये। अन्त में उन्हें मोक्ष की पदवी प्राप्त हुई। मुनि से आज्ञा लेकर वे अपनी राजधानी को चले गये और महामुनि रैक्व भी भगवान् माणिकेश्वर के समीप गीता के छटे अध्याय का पाठ करते हुए

सुखपूर्वक कालयापन करने लगे। जो देवता हँस का रूप रखकर राजा को वरदान देने आये थे, वे भी राजा को कृतार्थ समझकर स्वेच्छापूर्वक अपने-अपने लोकों को चले गये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह मैंने श्रीमद्भगवत्गीता के छटे अध्याय का माहात्म्य आपको सुनाया। जो गीता के छटे अध्याय का नित्य नियम से पाठ करता है, वह भगवान् श्रीविष्णु के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यह मैंने गीता के छटे अध्याय का माहात्म्य आप लोगों को सुनाया, अब आगे मैं सातवें अध्याय का माहात्म्य आपको सुनाऊँगा। आशा है आप इसे साव-धानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

सुनि सारथि तें वृत्त भूप लै भेंट करन धन।
पहुँचे वै कश्मीर रैक ढिँग गये मुदित मन॥
देखि भेंट धन क्रुद्ध भये मुनि नृप घबराये।
पुनि प्रसन्न ह्वै गये सुखद उपदेश सुनाये॥
गीता को अध्याय षट, जानश्रुति कूँ मुनि दयो।
पाठ मनन नित-नित करत, भूप कृतारथ ह्वै गयो॥

योग की प्राप्ति ही परम लाभ है

[१२]

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥*
(श्री भ० गी० ६ अ० २२, २३ श्लोक)

छप्पय

जाहि पाइ कें और लाभ उत्तम नहिँ सूझै।
जाहि बूझि कें अन्य बात सुंदर नहिँ बूझै॥
इस्थित जा में रहैं दुःख कितने हू आवें।
चलितचित्त नहिँ होहि अधिक अति विपति सतावें॥
भारी तें भारी विपति, चित्त एक रस ही रहत।
ऐसी इस्थिति जासु तें, जोग कहें तिहि वेदवित॥

---

* जिसके प्राप्त कर लेने पर उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ ही नहीं मानता है और जिस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःखों से भी विचलित नहीं होता है॥२२॥

उसी अवस्था का नाम योग है, जो दुःख रूपी संसार के संयोग से रहित है। उसी योग को बिना घबड़ाये निश्चयपूर्वक करना चाहिये और उसी को जानना चाहिये॥२३॥

योग साधन में तीन बात बहुत आवश्यक हैं, पहिली बात तो यह है, कि धैर्य धारण करके दीर्घकाल तक अभ्यास करता ही रहे। साधन करते-करते अधीर न हो। दूसरी बात नित्य नियमपूर्वक साधन करे, साधन में आलस्य प्रमाद न करे। तीसरी बात श्रद्धापूर्वक साधन करे, जो भी साधन करे, उसमें अपनी पूर्ण निष्ठा रखे कि इससे मेरा कार्य अवश्य ही सिद्ध हो जायगा। जो इन तीन बातों को मानकर योग में प्रवृत्त होता है, उसका योग सिद्ध हो ही जाता है।

जो साधक साधन करते-करते अधीर हो जाता है, वह सच्चा साधक नहीं। साधन चाहे जैसा भी कठिन हो, दृढ निश्चय कर ले कि मैं तो इस कार्य को करके ही छोड़ूँगा, चाहे जितना भी समय लग जाय, ऐसे दृढ़ निश्चय करने वाले साधक के लिये भला कौन सा कार्य ऐसा है जो सिद्ध न हो। इस विषय में एक टिटहरी का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है।

एक टिटहरी समुद्र के किनारे रहती थी, उसने समुद्र के किनारे अंडे दिये। वह उन अंडों को नित्य बड़े प्रेम से सेया करती थी। एक दिन टिटहरी तो वन में चुगा चरने गयी, उसी समय समुद्र की एक बड़ी भारी लहर आई, उसमें टिटहरी के सब अंडे समुद्र में चले गये।

लौटकर टिटहरी क्या देखती है कि उसके अंडे वहाँ नहीं हैं। समुद्र की लहरों का चिन्ह बना हुआ था, बहते हुए अंडों के भी निशान बने थे। टिटहरी को यह समझने में देर नहीं हुई कि मेरे अंडों को समुद्र चुरा ले गया है। उसे समुद्र पर बड़ा क्रोध आया। उसने निश्चय कर लिया कि, "जिस समुद्र ने मेरे अंडे चुरा लिये हैं, उसे मैं जलहीन कर दूँगी, उसे सुखा कर ही छोड़ूँगी।"

ऐसा निश्चय करके वह अपनी चौंच में जल भर-भर कर समुद्र से बाहर फेंकने लगी। कुछ ही काल में उसके और भी जाति बन्धु पक्षी आ गये। उन्होंने उसे समझाया, "तू पागलपन मत कर। भला इतना अगम अगाध समुद्र तेरी चौंच के पानी से कैसे खाली हो सकता है?"

उसने सबसे दृढ़ता के स्वर में कह दिया—"देखो, भाई! सब कान खोलकर सुन लो। समुद्र चाहे कैसा भी अगम अगाध अथवा अपार हो, मैं इसे बिना खाली किये विश्राम न लूँगी। मुझे समझाना व्यर्थ है, मैं अपने दृढ़ निश्चय से हट नहीं सकती। आप लोगों को मेरा कार्य अच्छा लगे तो, आप मेरी यथाशक्ति सहायता करो, न अच्छा लगे, तो अपना-अपना मार्ग पकड़ो। मैं किसी को बुलाने तो गयी नहीं। आप लोगों ने सहानुभूति प्रदर्शित की, इसके लिये धन्यवाद है, अब मुझे अपना काम करने दो।" यह कहकर वह फिर से चौंच में पानी भर-भर कर बाहर डालने लगी।

जब पक्षियों ने देखा, यह तो किसी प्रकार मानने वाली नहीं, तो वे सब भी उसकी सहानुभूति में अपनी-अपनी चौंचों में पानी भर-भर कर बाहर डालने लगे। इतने में ही वहाँ नारद मुनि आ गये। नारद मुनि ने जब यह दृश्य देखा तो वे आश्चर्य-चकित हो गये। उन्होंने पक्षियों से पूछा—भाई, क्या कर रहे हो?

पक्षियों ने कहा—"भगवन्! हम समुद्र को सुखाने का प्रयत्न कर रहे हैं।"

नारद जी ने पूछा—समुद्र ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, तुम समुद्र को क्यों सुखाना चाहते हो?

पक्षियों ने कहा—"समुद्र ने हमारे साथी के अंडे चुरा लिये हैं।"

नारद जी ने कहा—"ऐसे तुम कब तक समुद्र को सुखा सकोगे?"

पक्षियों ने कहा—"भगवन्! हम तो अपने साथी की सहानुभूति में प्रयत्न कर रहे है। समुद्र कब तक सूख सकेगा, इस बात को तो इसी से पूछिये।"

नारद जी ने उसी टिटहरी से पूछा—"तुम्हारी चोंच में कितना पानी आता है, ऐसे कब तक तुम समुद्र को सुखा सकोगी?"

टिटहरी ने कहा—"भगवन्! चोंच में कितना भी कम पानी आवे, समुद्र में से कुछ तो कम होता ही है हम अपने प्रयत्न में निरन्तर लगी रहेंगी। इस जन्म में नहीं दूसरे जन्म में तीसरे जन्म में अनन्त जन्मों तक प्रयत्न करते-करते हम इसे सुखा देंगी। जब तक समुद्र सूखेगा नही तब तक हम विश्राम न लेंगी।"

नारद जी उनके ऐसे दृढ़ निश्चय से अत्यन्त प्रभावित हुए। वे विष्णुलोक में गये, वहाँ गरुडजी से जाकर कहा—"गरुड़जी! तुम कैसे पक्षिराज हो, तुम्हें तो सब खगेन्द्र कहते हैं। समस्त पक्षी तुम्हारी प्रजा हैं। देखो, पक्षियों के अंडों को समुद्र चुरा ले गया है, वे समुद्र को सुखाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जाकर उनकी कुछ सहायता करो।"

यह सुनते ही गरुड़जी तुरन्त वहाँ गये। पक्षियों के ऐसे प्रयत्न तथा दृढ़ निश्चय को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। वे अपने पंखों की वायु से समुद्र को सुखाने का प्रयत्न करने लगे। जिस काम में भगवान् विष्णु के मित्र, सखा तथा वाहन लग जायँ, वह ऐसा कौन सा कार्य है जो सिद्ध न हो, यही सोचकर समुद्र भय-

भीत होकर गरुड़जी के समीप प्रकट होकर बोला—"भगवन्! ये उस पक्षी के अंडे है, भूल से मेरी लहरों में बह गये थे, मैंने इन्हे चुराया नहीं। आप प्रसन्न हो जाइये और अब मुझे सुखाने का प्रयास न कीजिये।"

अपने अंडे पाकर टिटहरी प्रसन्न हुई, उसके ऐसे दृढ़ निश्चय की सभी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। सो, दृढ़ निश्चय के सम्मुख असंभव भी संभव हो जाता है।

नित्य नियम से साधन करने पर कैसा भी काम हो, वह एक दिन अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। एक ग्वाला नित्य नियम से शिवजी को भी दो लाठी मारता था। वह नदी के उस पार गौएँ चराने जाता था। एक दिन नदी में बाढ़ आ गयी। श्रावण भादों की नदी भयंकर बन गयी। उस दिन वह इसी पार पशु चराता रहा। सायंकाल जब वह भोजन करने बैठा, उसे याद आई—"अरे, आज शिवजी में लाठी तो मारी ही नहीं।" भोजन की थाली को ज्यों का त्यों ही छोड़कर वह प्राणों का पण लगाकर नदी में कूद पड़ा और आधी रात्रि में अत्यन्त परिश्रम करके मन्दिर में पहुँच गया। ज्यों ही उसने दो लट्ठ मारे, त्यों ही शिवजी प्रकट होकर कहने लगे—"मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, वर माँगो।"

उस अहीर ने कहा—"महाराज, मुझे क्या पता था, कि आप लट्ठ मारने से प्रसन्न होते हैं। यह पता होता तो मैं नित्य १०-२० मारता।"

शिवजी ने कहा—"मैं लट्ठ मारने से प्रसन्न नहीं हुआ, तुम्हारे दृढ़निष्ठा से-नियम पालन से-प्रसन्न हुआ हूँ।"

सो नियमित रूप से नित्य-नित्य साधन करने से सिद्धि देर-सवेर किसी न किसी दिन अवश्य प्राप्त होती है।

तीसरी बात श्रद्धा की है, श्रद्धापूर्वक किसी भी कार्य को करते रहो, आपकी श्रद्धा के प्रभाव से त्रुटिपूर्ण कार्य का फल भी सुंदर ही होगा। एक साधक गायत्री का जप करते थे। एक बड़े भारी पंडित जो उनके पास पहुँचे। और बोले—"अरे, भाई, तुम तो अशुद्ध मन्त्रोच्चारण करते हो।"

साधक ने दृढ़ता के साथ कहा—"मैं चाहें अशुद्ध ही जाप करता हूँ, यदि आप शुद्ध जप करते हैं, तो आप और मैं दोनों इस पहाड़ के शिखर को उठावें, देखें कौन उठाता है।" यह कह कर जप करने वाले ने तो पहाड़ का शिखर उठा लिया, उसके रख देने पर पंडितजी ने प्रयत्न किया तो वे उसे नहीं उठा सके। क्योंकि वे शुद्ध अशुद्ध जानते ही भर थे जप नहीं करते थे।

इसलिये समय की कुछ भी परवाह न करके समय को निरवधि मानकर धैर्य के साथ श्रद्धापूर्वक नित्य नियम से जो साधन में प्रवृत्त होता है, वह देर में सबेर मे कभी न कभी अपने कार्य में सफल हो ही जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् इसी बात का उत्तर दे रहे हैं, कि क्या करते हुए कैसा निश्चय करके साधन में प्रवृत्त होना चाहिये।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! श्रद्धाभक्ति और दृढ़ता के साथ योगमार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये। योग की अवस्था ऐसी अनुपम वस्तु है, कि जिसे यह अवस्था प्राप्त हो गयी, उसके लिये प्राप्त करने को और कुछ अवशेष ही नहीं रह जाता। उससे बढ़कर उसके लिये कोई दूसरा लाभ है ही नहीं। उस योगावस्था में साधक स्थित हो जाय, तो फिर उस पर कितना भी भारी से भारी दुःख क्यों न पड़ जाय, उस दुःख के कारण वह अपने पथ

से तनिक भी विचलित नहीं होता। उसका चित्त तनिक भी नहीं घबड़ाता।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! उस अवस्था का क्या नाम है?

भगवान् ने कहा—"भाई, वही तो 'योग' के नाम से विख्यात है। योग की वह अन्तिम निष्ठा है। जिस अवस्था को दुःख संयोग वियोग कहते हैं। दुःख तो संसार की सभी वस्तुओं में है, उस दुःख संयोग का सर्वथा वियोग हो जाय, उसी को 'योग' जानना चाहिये। उस अवस्था की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्नशील होना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! प्रयत्न कैसे करे।"

भगवान् ने कहा—'देखो, भाई! सब साधनों में व्यग्रता ही बड़ा भारी विघ्न है। कोई भी कार्य करे व्यग्रचित्त होकर कभी न करे एक तो यह दृढ़ निश्चय करके कर्म में प्रवृत्त हो कि मैं इस कार्य को कर ही लूंगा और दूसरे अव्यग्रचित्त से अभ्यास करे। मन में निर्विण्णता न आने दे। जो सावधानी से बिना व्याकुलता के कर्म करते हैं, उनकी सफलता में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रहता।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! चित्त तो बड़ा ही चंचल है इस चित्त को कैसे उपरत करें?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने चित्त की उपरति का उपाय पूछा, तो भगवान् ने उसका जो उत्तर दिया उसे मैं आपको आगे बताता हूँ, आशा है आप सब इसे सावधानी से श्रवण करेंगे।"

छप्पय

इन्द्रिनि तैं संयोग सदा विषयनि तैं होवै।
उनतैं होवै दुःख जीव ताही तैं रोवै॥
होवै दुःख–वियोग वही है जोग अवस्था।
कहैं ताहि कूँ जोग मुनिनि की जिही व्यवस्था॥
धैर्य और उत्साह चित, करनो चहिये नित्य नित।
घबरावै उकताइ नहिँ, जोगी ज्ञानी वेदवित॥

उपरतचित्त को आत्मस्थ करके और कुछ भी न सोचे

[१३]

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥*

(श्रीम० गी० ६ अ० २४, २५ श्लो०)

छप्पय

कैसे मनवश करै भई जबई जिज्ञासा ।
जाते नित-नित धैर्य बढ़ै नहिँ होहि निराशा ॥
मन में नित संकल्प उठै थिर चित्त न होवै ।
सकल कामना भोग त्यागि सच्चो सुख जोवै ॥
त्याग करे निश्शेष सब, मनगत सबरे भाव कूँ ।
भली भाँति रोके प्रबल, इनि इन्द्रिय समुदाय कूँ ॥

---

* संकल्प से उत्पन्न सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेष रूप से त्याग कर मन के द्वारा इन्द्रिय समुदाय को सभी ओर से विशेष रूप से वश में करे ॥२४॥

शनैः-शनैः उपरामता को प्राप्त करे, धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके कुछ भी चिन्तन न करे ॥२५॥

मन को संकल्प विकल्पात्मक बताया है। संकल्प तो उसे कहते हैं जिसमें दोष दिखायी ही न दें, जिसे करने के लिये मनमें उत्साह हो। जैसे एक व्यापारी है, उसका संकल्प हुआ अमुक व्यापार करना चाहिये। व्यापार करना चाहिये जिस समय यह संकल्प उठा उस समय यह बात सर्वथा वह भूल ही गया, कि व्यापार में घाटा भी हो जाता है। घाटे की बात याद रहे तब तो संकल्प हो नहीं होता। अब फिर उसमें कब किया जाय। अकेले किया जाय या किसी के साथ मिलकर किया जाय, इस प्रकार की बातें उठने को विकल्प कहते हैं। ठीक यही बात मन के विषयों में संचार करने के सम्बन्ध है। ये संसारी विषय तो अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं, संसार बन्धन को अधिकाधिक दृढ़ करने वाले हैं। ऐसे विषयों को भी भोगने की इच्छा का नाम संकल्प है। संकल्प दो प्रकार की वस्तुओं में हुआ करता है, देखी हुई अनुभव की हुई वस्तुओं में अथवा सुनी हुई वस्तुओं में। हमने प्रयागराज को देखा है, त्रिवेणी में स्नान किया है। फिर मनमें संकल्प हुआ एक बार प्रयागराज चलकर फिर त्रिवेणी में स्नान किया जाय। यह दृष्ट वस्तु का संकल्प है। हम कभी रामेश्वर जी या जगन्नाथ जी गये नहीं हैं, किन्तु लोगों से वहाँ के स्थानों की समुद्रों की लहरों की भगवान् के भोग की बड़ी प्रशंसा सुनी है, तो सुनकर हमारा भी संकल्प हुआ एक बार चलकर देखा जाय। इसी प्रकार लोगों को तैल-फुलैल सुगन्धित पदार्थ लगाये, सुवासित माला पहिने, सुन्दर वाहनों में चढ़े, महिलाओं के साथ हास-परिहास करते देखते हैं, इनमें से किसी विषय का इसके पूर्व अनेक बार उपभोग भी किया है, उन्हें फिर से प्राप्त करने की इच्छा दृष्ट संकल्प है। इसके विपरीत आज तक न हमने स्वर्ग देखा है, न वहाँ मिलने वाला अमृत, अप्सरा, कल्पवृक्ष तथा

अन्यान्य दिव्यभोगों को कभी देखा नहीं, किन्तु शास्त्रों से अथवा बड़े लोगों के मुख से इनकी प्रशंसा सुनी है, तो इन्हें उपभोग की इच्छा श्रुत संकल्प है ये भाँति-भाँति की इच्छायें ही प्राणी को चौरासी के चक्कर में बारम्बार घुमाती रहती हैं। वे बड़भागी लोग हैं, जिनकी समस्त विषयों के उपभोग की कामनायें नष्ट हो गयी हैं।

इन्द्रियाँ तो अपने-अपने विषयों को चाहती ही हैं। कान कहते हैं, सुमधुर राग सुनने चाहिये कोकिलबैनियों की कूज सुननी चाहिये। जिह्वा कहती हैं सुस्वादु पदार्थों का स्वाद चखना चाहिये। नेत्र कहते हैं शुचि, उज्वल, पवित्र, तथा दर्शनीय वस्तुओं को बारम्बार देखना चाहिये, घ्राण कहती है सुवासित पदार्थों को सूँघना चाहिये। स्पर्शेन्द्रिय कहती है, मृदुल, कोमल, गुदगुदे हृदय को सुख पहुँचाने वाले पदार्थों का स्पर्श करना चाहिये। किन्तु ये इन्द्रियाँ अपने आप कुछ भी करने में समर्थ नहीं। ये तो परमुखापेक्षी है, जब तक मन इनके साथ न हो, तब तक विषय सामग्री सम्मुख होने पर भी इन्द्रियाँ उनका उपभोग नहीं कर सकतीं। आपके सामने से कोई सर्वाङ्गसुंदरी श्यामा निकल गयी। आपकी आँखें खुली भी है, किन्तु आपका मन किसी अन्य वस्तु का चिन्तन कर रहा है, तो आँखों के सम्मुख होने पर भी चक्षु इन्द्रिय उस सौन्दर्य की अनुभूति नहीं कर सकी। इससे सिद्ध हुआ इन्द्रियग्राम मनके अधीन हैं और मन है संकल्प के अधीन। संकल्प न उठे तो मन में उपभोग बुद्धि आ ही नहीं सकती। इसीलिये एक महात्मा ने मन को समझाते हुए कहा था—देख, मन! तू स्वतन्त्र नहीं है, तू तो संकल्प का चेरा है, अतः मैं जब संकल्प ही न करूँगा, तो तू कुछ भी नहीं कर सकेगा, गतिहीन हो जायगा। इसीलिये भगवान्

योग साधक को सर्वप्रथम संकल्प के त्याग की सम्मति देते हैं। मनमें कामनाओं का ज्यों ही संकल्प उठे, कि तुरन्त उस संकल्प का हाथ में जल लेकर श्रीकृष्णार्पण का संकल्प कर देना चाहिये। कामना की जड़ पर ही कुठाराघात कर देना चाहिये। ऐसा साधक ही योगमार्ग में अग्रसर हो सकता है।

साधना में एक सबसे बड़ा विघ्न है, शीघ्रता। साधन में दृढ़ता की तथा आत्मविश्वास और श्रद्धा की आवश्यकता है, आप हथेली पर सरसों जमाना चाहें, तो वह साधना नहीं है। सब कार्य समय से होते हैं। आप आम के पेड़ में क्वार महीने से ही निरन्तर पानी देते रहें पौष माघ में आम के पके फल मिल जायँ, तो असम्भव है। आप पेड़ की रेख-देख करें उसे पानी दें किन्तु फल तो समय पर ही आवेंगे। आप आषाढ़ में ही चाहे पानी पड़ते ही अन्य बीजों की भाँति बथुए का भी बीज उग आवे, तो असम्भव है। बथुआ तो कार्तिक में ही जाकर उगेगा। इसलिये शनैः-शनैः अभ्यास को बढ़ाना चाहिये और उसकी सिद्धि को भगवान् पर छोड़ देना चाहिये। तुम्हारा अधिकार कौशल पूर्वक कर्म करते रहने में ही है। फल प्राप्ति को ईश्वराधीन मानना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् योग साधक को योग साधना की विधि बताते हुए कहते हैं— "अर्जुन! समस्त कामनायें संकल्प से ही उठती हैं, इसलिये तुम्हें इन संकल्प से उठने वाली समस्त कामनाओं को त्याग देना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"कामनायें त्याग दें तो शरीर निर्वाह कैसे होगा?"

भगवान् ने कहा—भाई, केवल शरीर निर्वाह मात्र की चेष्टा

करना चाहिये। भोग बुद्धि की कामनाओं को त्याग कर सब ओर विषयों में दौड़ती हुई इन्द्रियों को मन से रोकना चाहिये। उन्हें संयम में रखना चाहिये। शरीर निर्वाह सम्बन्धी चेष्टा तो हो, किन्तु इन्द्रिय लोलुपता न होने पावे।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! चित्त तो बड़ा चंचल है, यह तो इर-फिर कर विषयों की ही ओर दौड़ता है।

भगवान् ने कहा—"चित्त इतना अधिक चंचल न होता, तो शास्त्रों में इसे वश में करने के इतने अधिक उपाय न बताये जाते। यह चंचल है तभी तो इसे वश में करने की बार-बार युक्तियाँ बतायी जाती हैं। शीघ्रता करने से काम नहीं चलने का। बड़ी धीरता के साथ चित्त को शनैः-शनैः वश में करे।

अर्जुन ने पूछा—"चिन्तन तो चित्त ही करता रहता है, इसे वश में किसके द्वारा करे।"

भगवान् ने कहा—"बुद्धि के द्वारा करे। यह जो सद् असद् विवेकिनी बुद्धि है, जिसे साधनों द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म बना लिया है, उसी सूक्ष्म की हुई निरुद्ध बुद्धि से चित्त को सहज भाव से उपरत करे। उपरत हुएमन को आत्मा में विलोम भाव से स्थित कर दे। फिर कुछ भी चिन्तन न करे। मुझे परमात्मा के अतिरिक्त दूसरे विषय को सोचे ही नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—विलोम भाव क्या ?

भगवान् ने कहा—सृष्टि का क्रम ऐसा बताया है, कि विराट् पुरुष से ही यह सृष्टि हुई है। प्रकृति में जब विषमता होती है, उसमें क्षोभ होता है तभी महत्तत्व की उत्पत्ति होती है, उससे अहंकार होता है, फिर बुद्धि, मन, तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ, देवगण तथा पंचमहाभूत होते हैं।

जब विलीन करना होता है, तो महाभूतों को तन्मात्राओं में,

तन्मात्राओं को इन्द्रियों में, इन्द्रियों को मन में मन को बुद्धि में, बुद्धि को महत्तत्व में, महत्तत्व को प्रकृति में और प्रकृति को परम पुरुष में लीन कर देना चाहिये। वही पुरुष अन्तिम सीमा है वही अन्तिम गति है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! चित्त तो समाधि की विरोधी वृत्तियों को पैदा करता है। अर्थात् समाधि की ओर न लगकर विषयों की ओर दौड़ता है, ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विषयों की ओर दौड़ते चित्त को समाधि में कैसे लावे इसका जो उत्तर भगवान् ने दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

क्रम-क्रम तेँ अभ्यास करे नहिँ होइ भोगरति।
इन्द्रिनि खींचे विषय होहि तबई जग उपरति॥
धैर्ययुक्त बनि मनहिँ भाव परमात्म लगावै।
दृढ़ता हिय में धारि चित्त इत उत न चलावै॥
बिखरे मन कूँ एक करि एक तत्व इस्थिर करै।
जग प्रपञ्च विसराय कें, और न कछु चितन करै॥

यतचित्त योगी को परम शान्ति मिलती है

[१४]

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥✽
(श्री० भग० गी० ६ अ० २६, २७ श्लो०)

छप्पय

सागर सम मन कह्यो तरंगहु उठति निरन्तर ।
सब तरंग निःशेष करै जस मानससरबर ॥
यह मन थिर नहिं रहै बहुत चंचल नित भटकत ।
इन्द्रिय विषयनि संग जाइँ जित इँ तित अटकत ॥
सब तैं जाइ हटाइ कें, आत्मा में ही बस करै ।
ऐसे मन कूँ साधि कें, ब्रह्म-भाव में थिर करै ॥

✽ जिस-जिस पदार्थ मे यह अस्थिर और चंचल मन भटके उसे इधर-उधर से रोककर आत्मा में ही निरुद्ध करे ॥२६॥

उसी योगी को यह उत्तम आनन्द प्राप्त होता है, जिसका मन प्रशान्त हो गया है, जो निष्पाप है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है और जो ब्रह्म के साथ एकीभूत हो गया है ॥२७॥

भगवान् ने पता नहीं क्या सोच कर, किस मसाले से, किस कार्य के लिये इस चित्त को बनाया है। एक वानर को भर पेट सुरा पिला दी जाय, फिर एक साथ सहस्र विच्छुओं से उसे कटवा दिया जाय, उस समय उसका जो दशा होगी, उससे लाखों गुनी चञ्चलावस्था चित्त की है। एक तो बन्दर स्वभाव से ही चञ्चल होता है, फिर सुरा तो अपने मद से उसे और भी अधिक चंचल कर देगी, तिस पर भी असंख्य विच्छुओं का विष। ऐसे चञ्चल चित्त की सब ओर विखरी हुई वृत्तियों का एक स्थान में निरोध करना कितना कठिन है, इसे वही साधक जान सकता है, जिसने चित्त को वश में करने का प्रयत्न किया हो, अभ्यास के लिये उद्यत हुआ हो। बहुत से साधक तो वर्षों तक प्रयत्न करने पर चित्त के स्वरूप को ही नहीं समझ सके हैं। बिल में से जैसे सर्प निकला है, उसे उसी प्रकार बिल में प्रवेश करा देना। यही साधन है। सर्प पहिले बिल से फण को निकालता है, तदनन्तर ग्रीवा को, फिर पेट पीठ को और तब पूँछ को निकाल कर बाहर आ जाता है। तब वह काटने आदि का व्यापार करने लगता है। अब यदि उसे पुनः प्रवेश करना हो, तो मुख से नहीं पूँछ से प्रवेश करना चाहिये। पूछ चली जायगी तब शनैः-शनैः सब शरीर चला जायगा। फिर आप दृढ़ता के साथ पत्थरों से बिल के मुख को बंद कर दो, उसमें घुट कर सर्प मर जायगा, फिर प्रवेश न करेगा। बड़ी बुद्धिमानी से जैसे छोटे बच्चे को बहला-बहला कर उसे रोने से बन्द करके अपने अनुकूल करते हैं, उसी प्रकार चित्त को भी क्रम-क्रम से धीरे-धीरे वश में करना चाहिये।

विराट् पुरुष से प्रकृति के द्वारा यह संसार उत्पन्न हुआ है। प्रकृति कहाँ से टपक पड़ी, यह निर्विकार निरन्जन, निष्कल,

निर्द्वंद ब्रह्म के बीच में कैसे आ गयी, कब से आ गयी, यह चित् है या अचित् जड़ है या चैतन्य इन सब बातों का आज तक यथार्थ उत्तर किसी ने दिया ही नहीं। सभी ने इसे अचिन्त्य, अनिर्वचनीय कह कर छोड़ दिया। उसे जड़ शक्ति रूप से अव्यक्त कहा गया है, स्वयं इसमें कर्तृत्व की सामर्थ्य नहीं है, किन्तु चैतन्यांश पुरुष के सकाश से यह संसार के निर्माण में कारण बन जाती है प्रकृति में जब विकृत्ति या क्षोभ होता है, ऐसे अगम, अगाध, गम्भीर निस्तब्ध सागर में कंकड़ी डालने से वह क्षुब्ध हो उठता है, उसमें लहर पैदा हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रकृति में विषमता होने से चैतन्यांस की प्रेरणा से उसमें लहर उठने लगती हैं। उस प्रथम लहर को सामान्य अहंकार कहते हैं, उसी को महत्तत्त्व कहते हैं। उससे अन्तःकरण अहंकार फिर बुद्धि फिर मन उत्पन्न होता है, तदनन्तर इन्द्रियाँ इसलिये सबसे पहिले इन्द्रियों का संयम करना चाहिये। सर्व प्रथम वाणी का संयम करे। वाणी का संयम जैसे गो बोलती नहीं है। भूख लगी, प्यास लगी, मच्छर काटो, वह संकेत से भले ही प्रकट कर दे। वाणी से व्यक्त शब्दो द्वारा कुछ नही कहती। इसी प्रकार पहिला साधन यह है कि हठ पूर्वक विषयों से इन्द्रियों का संयोग न होने दे।

दूसरी भूमिका अब मन की है, क्योंकि इन्द्रियों से परे बलवान मन है। मन से सब ओर चञ्चल हुई इन्द्रियों को रोके बालक की भाँति विमुग्ध पुरुष-पागलों की भाँति, बालक का तथा पागल का मन काम नही करता। मन से परे बुद्धि है इसलिये मन निरोध के अनन्तर बुद्धि का संयम करे, बुद्धि को विचलित न होने दे यह तीसरी भूमिका है। जैसे तन्द्रा के समय बुद्धि काम नहीं करती। वह विलीन सी हो जाती है। चौथी भूमिका है महत्तत्व, को शून्य हो जाना जैसे गाढ़ सुषुप्ति

अवस्था में बुद्धि सर्वथा विलीन हो जाती है। इसी अवस्था का का नाम असंप्रज्ञात समाधि है। किन्तु तत्वज्ञान के इच्छुक साधक के लिये तो निरोध समाधि की आवश्यता है कारण कि उसी से जीवन्मुक्ति की उपलब्धि सम्भव है, उसी के द्वारा अशेष संक्लेशों का क्षय हो सकेगा। इसीलिये चित्त को बहुत ही यत्नपूर्वक शनैः शनैः बहलाना पड़ता है।

जब बुद्धि साधन करते-करते अत्यंत सूक्ष्म हो जाय और चित्त पर अपना पूरा अधिकार हो जाय, कि बिना चाहे कोई संकल्प उठे ही नहीं, तो पहिले तो अभ्यास ऐसा करना चाहिये कि किसी विषय की चिन्ता ही न करे निश्चिन्त हो जाय। अनात्म पदार्थों की चिन्ता करेगा तो फिर संसार उपस्थित हो जायगा। आत्मा में वृत्ति निरुद्ध हो जाय तब तो आत्म साक्षात्कार ही हो जायगा। निर्विकल्प समाधि अवस्था ही प्राप्त हो जायगी। तब तो फिर आगे किसी साधन की-प्रयत्न की—आवश्यकता हो नहीं। किन्तु जब तक सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था प्राप्त नहीं हुई है, तब तक आत्म तत्त्व की ओर बड़ी सावधानी से चलना चाहिये। क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि में भी व्युत्थान की-विघ्नों की-सम्भावना रहती है। इसलिये वैराग्य अभ्यास से काम और भोग से विक्षिप्त मन का निग्रह करे। उनका आत्मा में ही निरोध करे।

चित्त का स्वभाव ससारी विषयों में ही लगने का है. जिसका जो स्वभाव पड़ जाता है, वह कठिनता से छूटता है। अतः मन जितनी बार भी विषयाभिमुख हो, उतनी ही बार उसे हटाकर आत्माभिमुख करने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति इन वृत्तियों में से किसी भी वृत्ति से परिणाम को प्राप्त हुए मन का निग्रह करना चाहिये। जैसे सुषुप्ति अवस्था में मन लीन हो जाता है, जाग्रत अवस्था में विक्षिप्त हो जाता है,

ये दोनों ही समाधि में विघ्न हैं। अतः विक्षेप और लय के अभिमुख चित्त जब-जब हो जाय, तब-तब उसे वहाँ से रोककर परमात्मा में लगाना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति का परम साधन पूछा, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! किसी भी प्रकार यह मन वश में हो जाय, इसकी चंचलता नष्ट हो जाय, यह अनात्म पदार्थों की ओर न जाकर आत्माभिमुख हो जाय, तभी इसे परम शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।"

अर्जुन ने पूछा—यह आत्माभिमुख कैसे हो?

भगवान् ने कहा—"देखो, मन संसारी विषयों की ओर जायगा तो इसे विक्षेप होगा। शरीर में मल और मन में विक्षेप ये दो साधन में बड़े अन्तराय हैं। शरीर के मल को तो औषधि से सदाचरण से तथा आसनादि से निवृत्त करे, मन के विक्षेप को नित्य के अभ्यास से तथा वैराग्य से दूर करे। मन का लय प्रकृति में होता है, अतः लय न होकर इसका निरोध करे और इसे आत्मा की ही ओर लगावे। जिस-जिस कारण से यह विक्षेप और लय की ओर जाय, समाधि की विरोध वृत्ति को उत्पन्न करे। उस-उस कारण से इसे हटाकर बारम्बार आत्मा की ही ओर अभिमुख करे। क्योंकि परमानन्द तो आत्मा ही में है। आत्मरति आत्मतुष्टि आत्मक्रीड़ा यथार्थ आनन्द है। जब तक यह विषय वन में भटकता रहेगा तब तक अशान्त ही बना रहेगा। बिखरी हुई वृत्तियाँ ही इसकी शांति को भंग कर देती हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"बार-बार विषयों से चित्त हटाने से मन आत्मा की ओर लगेगा कैसे?"

भगवान् ने कहा—"देखो, त्रिगुणों में सबसे अधिक विषयों

की ओर ले जाने वाले रजोगुण तथा तमोगुण ही है। सत्त्वगुण तो ज्ञान की ओर ले जाता है। शुद्ध सत्तोगुण ही मन को आत्माभिमुख करने में सहायक है। अतः चित्त की चंचलता को मेटकर शान्तचित्त हुआ योगी, रजोगुण और तमोगुण से रहित है, जिसके समस्त कल्मष-पाप-कट गये हैं। तथा जो साधना के प्रभाव से ब्रह्मभूत हो गया है, उसी योगी को उत्तम सुख की प्राप्ति हो सकती है।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसी स्थिति होने पर योगी की दृष्टि कैसी हो जाती है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ब्रह्मभूत योगी की दृष्टि और उसके सुख के सम्बन्ध में भगवान् आगे बतावेंगे।"

छप्पय

पूर्वजनम अभ्यास हेतु मन भ्रमत सदाई।
नित नित करि अभ्यास तुरत थिर मन है जाई॥
जाको मन अति शांत बशी सब भाँति भयो है।
और रजोगुन शान्त पाप तें रहित भयो है॥
सुही सच्चिदानन्दघन, ब्रह्मभूत वह शान्तमति।
जोगी साधनसिद्ध नर, पावै सो आनन्द अति॥

समदर्शी योगी ब्रह्मसंस्पर्श सुख का अनुभव करता है

[१५]

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥*

(श्री भ० गी० ६ अ० २८, २९ श्लोक)

छप्पय

सब पापनि तें रहित भयो निष्कलमष जोगी ।
भूलि न वांछा उठै होहुँ विषयनि को भोगी ॥
आत्मा कूँ परमात्म माहिँ नित नित्य लगावै ।
परस विषय नहिँ करे, ब्रह्म संस्परसहिँ पावै ॥
सुख आत्यन्तिक प्राप्त करि, जग जलनिधि सुख तें तरे ।
आत्म-भाव महँ मगन है, नित आनँद अनुभव करे ॥

---

* इस प्रकार यह निष्पाप योगी अपने आपको योगाभ्यास में लगाता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्म का संस्पर्श प्राप्त करता है, जिससे वह अनन्त आनन्द का अनुभव करता है ॥२८॥

योग से युक्त आत्मावाला समदर्शी योगी अपनी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में और सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा में देखता है ॥२९॥

जीव सुख चाहता है, उसकी समस्त चेष्टायें दुःख की निवृत्ति तथा सुख की उपलब्धि के ही निमित्त हुआ करती है। संसारी विषयों में सुख नहीं है, सुखाभास है। जैसे मरुभूमि में दूर से बालू पर सूर्य की किरण पड़ने से जल को प्रतीति होती है। प्यासा मृग दूर से उसे जल समझ कर उसे प्राप्त करने को दौड़ता है, जितना ही वह दौड़ता है, वह बनावटी जल और दूर दिखायी देने लगता है। इसीलिये उन बालू पर पड़ी किरणों को 'मृग-मरीचिका' कहते हैं। उस मृगमरीचिका से आज तक न किसी की प्यास बुझी है, न आगे बुझेगी ही। इसी प्रकार विषयजन्य सुख मृग मरीचिका के ही सदृश हैं, जीव सुख की आशा से कामिनी कांचनादि का संग्रह करता है, किन्तु उनमें वास्तविक सुख को न पाकर उसे निराश ही होना पड़ता है। तनिक सा सुखाभास-सा प्रतीत होता है, किन्तु वह आभास सुख न होकर दुःख का ही हेतु है।

अन्तःकरण के कषाय या कल्मष जब तक कटेंगे नहीं तब तक सच्चे सुख की प्राप्ति असम्भव है। इसलिये निरन्तर अव्यग्र चित्त से श्रद्धा के साथ धैर्यपूर्वक योगाभ्यासादि साधनों में लगे ही रहना चाहिये। साधन करते-करते चिरकाल में कल्मष घट ही जाते हैं। अधर्म से जैसे नरकादि लोकों की प्राप्ति होती है, वैसे ही धर्म से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है, अतः धर्म अधर्म, पुण्य पाप, अच्छा बुरा, सत्य अनृतादि जो द्वन्द्व हैं, ये दोनों ही बन्धन के कारण है, एक बन्धन मूँज की रस्सी का है, दूसरा रेशम की मृदुल डोरी का। चाहे मूँज की रस्सी का अथवा रेशम के लच्छों का कैसा भी बन्धन क्यों न हो है तो बन्धन ही। अतः धर्म के द्वारा अधर्म को छोड़ना चाहिये फिर धर्म को भी छोड़कर

निर्द्वंद्व होकर आत्यन्तिक सुख का अनुभव करने के लिये शास्त्र उपदेश करता है।

जो साधक साधनों में प्रवृत्त होता है, उसके मार्ग में बहुत से अन्तराय या विघ्न आकर रोड़े अटकाते हैं विघ्न तीन प्रकार के होते हैं, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। पंचभूतों द्वारा किये हुए विघ्न आधिभौतिक कहाते हैं, देवता द्वारा किये हुए विघ्न आधिदैविक कहाते हैं और अन्तःकरण द्वारा होने वाले विघ्न आध्यात्मिक विघ्न कहलाते हैं। योग दर्शनकार ने उन अन्तरायों को चित्तविक्षेप के नाम से कहा है। क्योंकि ये चित्त को विक्षुब्ध कर देते हैं। योग कहते हैं चित्त के निरोध को। ये अन्तराय चित्त को निरुद्ध नहीं होने देते, मन को योग से दूर हटा ले जाते हैं। योग के मार्ग में रोड़े अटका देते है। योगदर्शन में इसके ९ प्रकार बताये हैं। १–व्याधि, २–स्त्यान, ३–संशय, ४–प्रमाद, ५–आलस्य, ६–अविरति, ७–भ्रान्ति-दर्शन, ८–अलब्ध-भूमिकत्व, और ९–अनवस्थितत्व। अब अत्यन्त संक्षेप में इनकी परिभाषा भी सुन लीजिये।

१–व्याधि-आधि कहते हैं मानसिक व्यथा को। शरीर में कोई रोग नहीं, किन्तु किसी पाप के कारण मन उद्‌विघ्न है। इसमे वह केवल आधि है, वही मन की उद्‌विघ्नता जब देह में मिथ्या आहार विहार के कारण दोष आमाशय में आकर धातुओं को विषम बना देते हैं, तो उनसे नाना रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उन शारीरिक रोगों का ही नाम विशेष आधि अर्थात् व्याधि है। शरीर रुग्ण होने से मन भी प्रसन्न नहीं रहता। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। इसलिये योग साधना में सबसे पहिले शरीर की स्वस्थता ही कारण है। शरीर में रोग हो जाना–

व्याधिग्रस्त देह बन जाना-यह साधन में पहिला विघ्न या अन्तराय है।

२-स्त्यान-कहते हैं स्फूर्ति के अभाव को। आलस्य में पड़े हैं, कुछ करने की इच्छा नहीं होती। अपने शिक्षक गुरु कहते हैं— "भैया, *आसन का अभ्यास करो, प्राणायाम करो।* किन्तु सुनकर भी करने को मन नहीं चाहता। जैसे-तैसे अभ्यास करने वैठे और बार-बार प्रयत्न करने पर भी वे आते नहीं। साधन में यह दूसरा सबसे भारी विघ्न है।"

३-संशय-उसे कहते हैं, कि यह काम करना चाहिये या न करना चाहिये। जो संशयात्मा है उसका विनाश निश्चित है। प्रत्येक कार्य की सफलता दृढ़ निश्चय से ही संभव है, जिसे प्रारंभ में ही संशय है, कि योगसाधना करनी चाहिये या न करनी चाहिये। सफलता मिलेगी, या न मिलेगी, तो ऐसे संशयालु पुरुषों का योग सिद्ध नहीं होता। संशय योग का तीसरा विघ्न है।

४-प्रमाद-उसे कहते हैं, कि अपने साधन की परवाह न करना। हमारे साधन का समय हो गया है, हम प्रमादवश दूसरे कार्यों में लगे हुए। प्रातःकाल अरुणोदय से पूर्व उठकर शौच स्नानादि नित्य कर्मों से निवृत्त होकर साधन में लग जाना चाहिये। हम सूर्योदय तक तान दुपट्टा सो रहे हैं। यह प्रमाद चौथा विघ्न हैं, प्रमादी पुरुष का साधन सिद्ध होना असम्भव ही है।

५-आलस्य-उसका नाम है, कि शरीर की सब इन्द्रियाँ व्यवस्थित रहने पर भी काम करने की इच्छा न होना। शरीर के भारी पन के कारण कर्मों में प्रवृत्ति न होना। शरीर में तमोगुण बढ़ गया है, या श्लेष्म कफ बढ़ गया है इससे उठने की काम करने की इच्छा नहीं होती। साधारणतया शरीर में कोई व्याधि नहीं

है, फिर भी आलस्य के वशीभूत होकर कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती। यह आलस्य साधन में सबसे बड़ा विघ्न है, क्योंकि आलस्य ही मनुष्यों का सबसे बड़ा अपना घरेलू शत्रु है।

६-अविरति-कहते हैं व्यसन को। किसी एक विषय में चित्त की ऐकान्तिक अभिलाषा का ही नाम व्यसन है। जब तक हमें वह वस्तु न मिल जाय तब तक चित्त उदासीन ही बना रहे। बहुत से भांग पीकर ही साधन में बैठते हैं, बहुतों को विशेष प्रकार का खाद्य या पेय न मिले, तो उनका किसी काम में मन ही नहीं लगता। यह अविरति योग साधन में छटा विघ्न या अन्तराय है।

७-भ्रान्ति दर्शन-उसे कहते हैं, जो बात यथार्थ है उसे अयथार्थ मानना और जो अयथार्थ है उसमें यथाथता देखना। जैसे किसी मादक वस्तु के सेवन से चित्त में एक प्रकार से उपरामता सी हो जाती है, उसे ही चित्त की एकाग्रता मानकर मादक द्रव्यों के सेवन का पक्ष लेना। अथवा आसनों के अभ्यास से जो शरीर मृदु और हलका हो जाता है, उसे न मानकर आसनों के अभ्यास का निषेध करना। इस प्रकार साधनों में भ्रान्ति का हो जाना या भ्रान्ति देखना यह सातवाँ योग का विघ्न है।

८-अलब्धभूमित्त्व-समाधि की जो भूमिकायें उनको प्राप्त न होना। समाधि में एकाग्रता होना परमावश्यक है, वह एकाग्रता न मिलने पर जो चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त दशा है उनका बना रहना ही अलब्धभूमिता कही गयी है, यह साधन में आठवाँ विघ्न है।

९-अनवस्थितत्व-अनवस्था होना चित्त का एकाग्रता में स्थिर न रहना यह भी बड़ा विघ्न है। मानलो समाधि की भूमि

की प्राप्ति तो किसी प्रकार हो गयी, किन्तु जितना चाहिये उतना उसमें प्रयत्न न किया गया, तो प्रयत्न की शिथिलता के कारण चित्त की अस्थिरता बनी रहना यही अनवस्थितत्व है। ये नौ अन्तराय या विघ्न ही योग से हटाने वाले हैं। साधक को इनका सदा सावधानी से ध्यान रखना चाहिये और इन्हें हटाने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। चित्त को विक्षिप्त बना देने वाली इन वृत्तियों पर विजय प्राप्त करके जो साधन में प्रवृत्त होता है, वही साधक निष्कल्मष् या विगतकल्मष् बन जाता है।

संसारी पदार्थों में जो अनुकूल स्पर्शजन्य अनुभूति है उसे संसारी सुख कहते है। वही स्पर्श यदि ब्रह्म का प्राप्त हो जाय तो ब्रह्म संस्पर्श कहते है, यह ब्रह्म स्पर्श निर्विकल्प समाधि द्वारा प्राप्त होता है। समाधि के जो दुःख, दौर्मनस्य अङ्गमेजत्व तथा स्वास और प्रश्वास विक्षेप है, उन विक्षेपों को हटाकर त्रिविध तापों से बचकर, संसारी पदार्थों में वैराग्य भावना रखकर, निरन्तर अभ्यास में रत रहने से अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् समाधिनिष्ठ योगी के आत्यन्तिक सुख को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"अर्जुन! जो योगी शास्त्र में बताई हुई विधि के द्वारा निरन्तर मन को समाधि के अभ्यास में लगाये रहता है जो सभी प्रकार के द्वन्द्वों से दूर रहकर अपने लक्ष्य की ही ओर अग्रसर होता रहता है, ऐसा योगी बिना विशेष परिश्रम के अनायास ही अक्षय सुख को प्राप्त कर लेता है। जिस योगी के समस्त कल्मष कट गये हैं, जो ब्रह्म सम्बन्धी अत्यन्त सुख है उसका अनुभव करने लगता है। उसे चारों ओर आनन्द ही आनन्द दृष्टिगोचर होने लगता है। आनन्द के अतिरिक्त उसे कुछ भी दिखायी नहीं देता। उसकी सर्वत्र समबुद्धि हो जाती है।"

अर्जुन ने पूछा—समबुद्धि होने पर ऐसा योगी कैसे देखता है?

भगवान् ने कहा—योग के निरन्तर के अभ्यास से जिसका चित्त विगतकल्मष, मलरहित निर्मल बन गया है, उसकी दृष्टि सर्वत्र समान बन जाती है। जैसे सुवर्ण के बने नाना आभूषणों में ज्ञानी केवल सुवर्ण को ही देखता है। सुवर्ण के अतिरिक्त उसे और कोई वस्तु दिखायी ही नहीं देती, ऐसे ही योग के द्वारा जिसने अपने समस्त कल्मषों को धो दिया है, ऐसा योगी सब भूतों में अपनी ही आत्मा को देखता है। वह अपने में भी उसी आत्मा को देखता है, और उसे ही सम्पूर्ण भूतों में भी देखता है। उसकी सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जाती है। ऐसा योग युक्तात्मा पुरुष किसी की निन्दा कैसे कर सकता है, उसे मोह भी कैसे हो सकता है। ऐसे समदर्शी के समीप शोक भी भला कैसे फटक सकता है। उसे मेरा साक्षात्कार हो जाता है।

अर्जुन ने पूछा—साक्षात्कार हुए पुरुष का लक्षण क्या है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जो ब्रह्म में ही वर्तता रहता है ऐसे ब्रह्म साक्षात्कार पुरुष के सम्बन्ध में भगवान् जो बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

सब भूतनि में एक आतमा इस्थित मानें।
अपनी आत्मा माहिं सबनि कूँ कलपित जानें॥
ऐसो जोगी जुक्त भयो आत्मा ही पेखै।
मम सच्चिदानन्द सबहिँ प्रानिनि में देखै॥
ऊँच नीच उत्तम अधम, भेदभाव को भाव नहिँ।
समदरसी सबके सुहृद, निरखै आत्मा में सबहिँ॥

—()—

योगी और परम योगी

[१६]

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ३०, ३१,३२ श्लो०)

छप्पय

वासुदेव ही तीनि भुवन में बसैं निरन्तर ।
वासुदेव सब माहिँ बसत हैं भीतर बाहर ॥
अरजुन ! मैं जो वासुदेव तिहि सब थल निरखत ।
सब थल में सरबत्र एक मोई कूँ देखत ॥
हौं ऐसे जोगी निमित, कबहुँ नाश होऊँ नहीं ।
पारथ ! मेरे हू निमित, नाश तासु कबहूँ नहीं ॥

---

* भगवान् कह रहे हैं—जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये भी अदृश्य नहीं होता ॥३०॥

जो योगी एकत्व भाव में स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझे

संसार की स्थिति विसमता में है। सर्वत्र विसमता ही विसमता व्याप्त है। जब गुणों में विसमता होती है, तभी सृष्टि-चक्र भी चलता है, जिस दिन विसमता नष्ट हो जायगी, उसी दिन संसार भी समाप्त हो जायगा। अर्थात् प्रलय हो जायगी। स्त्री और पुरुष एक रंग, रूप, वय, लम्बाई, चौड़ाई और स्वभाव के हों, तो उनके संतति नहीं होती। कुछ विसमता होनी ही चाहिये। सत्व, रज और तम जब ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं, उसी का नाम प्रकृति है, उस समय प्रकृति कुछ कर नहीं सकती, निष्क्रिय बनी रहती है। काल पाकर जब गुणों में क्षोभ होता है तीनों में विसमता आ जाती है, कोई गुण घट जाता है कोई उससे बढ़ चढ़ जाता है, तो सृष्टि होने लगती है। काल पाकर जब फिर गुणों में साम्यता आ जाती है, पुनः प्रलय हो जाती है। इसी का नाम संसार चक्र है।

प्रलय चार प्रकार की होती है। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक प्रलय। नित्य प्रलय तो सभी प्राणियों में प्रतिपल होती रहती है। कल जिस देवदत्त को देखा था, आज उसके सब परमाणु बदल गये, वह नया हो गया हमारे शरीर के प्रत्येक परमाणु प्रतिपल बदलते रहते हैं, उनकी प्रलय होती रहती है। जलते हुए दीपक की लोय प्रतिपल बदलती रहती है। नदी का प्रवाह प्रतिपल परिवर्तित होता रहता है, जिस जल में एक निमेष

भजता है, वह योगी सब प्रकार से बर्ताव करता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है ॥३१॥

हे अर्जुन! जो योगी अपनी ही भांति सम्पूर्ण भूतों में समभाव देखता है और दूसरों के सुख-दुःख में भी अपनी भांति बर्तता है, वही परमयोगी माना जाता है ॥३२॥

पूर्व आचमन किया था, उतनी ही देर है, वह जल बदल गया, दूर चला गया। अपरिवर्तित कोई पदार्थ नहीं। सभी प्रतिक्षण बदलते हैं, नये होते रहते हैं, इसी का नाम नित्य प्रलय है।

दूसरा नैमित्तिक प्रलय होती है। एक नियत समय में प्रलय हो जाती है। हमारा एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है। ऐसे ३६० दिनों में देवताओं का एक दिव्य वर्ष होता है। १२ हजार दिव्य वर्षों की एक चौकड़ी (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) होती है। ऐसी चौकड़िया जब सहस्रवार बीत जाती हैं, तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है, उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। ब्रह्माजी का दिन बीत जाने पर वे त्रिलोकी को समेट कर अपने उदर मे रखकर सो जाते हैं, उस समय भूलोक भुवर्लोक और स्वर्गलोक तीनों लोकों की प्रलय हो जाती है, महर्लोक के महर्षिगण जन लोक में चले जाते है, वह लोक खाली हो जाता है। इस प्रकार महः, जन, तपः और सत्यलोक ये चार लोक बच जाते है। इसी प्रलय का नाम नैमित्तिक प्रलय है, ब्रह्माजी के सोने के निमित्त से यह प्रलय हुई है।

एक ब्रह्मा की आयु उनके वर्षों से १०० वर्ष की होती है। ब्रह्माजी के वर्षों मे जब उनकी आयु पूरी हो जाती है, तो प्रकृति प्रलय कर देती है। उसमें भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः और तपोलोक ये सभी लोक नष्ट हो जाते हैं। चौदहों भुवनों का अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रकृति सम होकर विश्राम करती है। इसे प्राकृत प्रलय कहते हैं, समय आने पर फिर नये ब्रह्मा होते है, फिर सृष्टि चक्र आरम्भ हो जाता है, अतः यह प्राकृतिक प्रलय भी एक प्रकार से बड़ी नैमित्तिक प्रलय ही है।

चौथी आत्यन्तिक प्रलय है। ज्ञान हो जाने के अनन्तर ज्ञानी के लिये त्रिकाल में भी जगत् रहता ही नहीं और एक बार जगत्

ज्ञान द्वारा–या भगवत्भक्ति द्वारा विलीन हो गया, तो फिर वह कभी उत्पन्न ही नहीं होता। ज्ञानी की दृष्टि में मे विसमता सर्वथा नष्ट हो जाती है, वह अपने चारों ओर आत्मा को ही देखता है। आत्मा के अतिरिक्त उसको दृष्टि में किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व ही नहीं। वह समत्व में सर्वथा स्थित रहता है। उसकी दृष्टि फिर कभी भी विषम हो नहीं होती। ऐसा ज्ञानी शरीर त्याग देता है, तो शरीर के जिस-जिस भूत के जो-जो परमाणु हैं वे उन-उन परमाणुओं में मिल जाते हैं, वह स्वय आत्मानन्द अमृत सागर में तन्मय हो जाता है। उनमें योगियों में दो प्रकार के होते हैं, एक मुक्त दूसरे जीवन्मुक्त। मुक्त का तो ज्ञान होने के अनन्तर शरीर बन्धन रहता ही नही। वह तो शरीर त्यागकर स्वरूप में निमग्न हो जाते हैं। कुछ योगी 'चित्त तोद' के कारण शरीर से विमुक्त नहीं होते। शरीर को रखे हुए भी मुक्ति के आनन्द का रसास्वादन करते हैं। वे सर्वत्र आत्मौपम्य दृष्टि रखते हैं। जिस बात से अपने शरीर को कष्ट हो, उस कष्ट को वे सभी शरीरों में अनुभव करते हैं। जिस बात से अपने शरीर को सुख मिले, उस सुख को अनुभूति वे सब शरीरों में करते हैं। उनकी अनुभूति जगत् के चराचर प्राणियों में समान होती है, ऐसे योगी परमयोगी, महान्योगी, सर्वोच्चयोगी तथा योगिराज कहलाते है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! समदर्शी योगी के सम्बन्ध में बताते हुए श्रीकृष्णचन्द्रजी अर्जुन से कह रहे है—"हे अर्जुन! जो योगी सवत्र–सभी स्थानों मे मुझ परब्रह्म परमात्मा को ही देखता है, दूसरी वस्तु उसे दिखायी ही नहीं देती, ऐसा समदर्शी योगी ही वास्तव में योगी है।"

अर्जुन ने पूछा—"वह सर्वत्र तो आपको देखता है, कि अर्थात्

सभी प्राणियों में वह आपकी ही मूर्ति के दर्शन करता है, किन्तु आपको अकेले ही देखे, तो उसे क्या दिखायी देगा ?"

भगवान् ने कहा—मैं इस जगत् में ऐसे व्याप्त हो गया हूँ, जैसे बीज वृक्ष बनकर सम्पूर्ण वृक्ष में व्याप्त हो जाता। है जिस बीज से वृक्ष बना है, उस वृक्ष की जड़ को खोदकर आप देखें तो आपको जड़ में बीज नहीं मिलेगा। बीज ने ही वृक्ष का रूप रख लिया है। बीज ही वृक्ष रूप में परिणित हो गया है।

अर्जुन ने कहा—वह बीज तो वृक्ष का रूप रखकर एक से बहुत बन गया है, उस वृक्ष पर असंख्यों बीज लग गये हैं, उन बीजों में कौन सी दृष्टि रखें ?

भगवान् ने कहा—यही देखे कि इस एक बीज में असंख्यों वृक्ष समाये हुए हैं। एक बीज में अनन्त वृक्षों के दर्शन करे। इसी प्रकार मुझ सर्वनियन्ता में सब सम्पूर्ण विश्व के दर्शन करे।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसी समदृष्टि वाले योगी की दृष्टि से क्या आप ओझल हो जाते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ऐसा योगी मुझसे कभी बिछुड़ता नहीं वह मुझसे अदृश्य नही होता, दूर नही होता और मैं भी उससे कभी दूर नही होता उसके लिये सदा सर्वदा दृश्य ही बना रहता हूँ। अर्थात् उसमें और मुझमें कभी किसी प्रकार का बिलगाव नहीं होता।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे योगी, के लिये क्या क्या विधि है, क्या-क्या निषेध है ?"

भगवान् ने कहा—ऐसा योगी विधि निषेध से परे हो जाता है। उसके लिये न कोई विधि है और न कुछ निषिद्ध ही है। क्योंकि विधि निषेध के नियम तो उन लोगों के लिये होते हैं जिनमें कर्तापने का अभिमान हो। अभिमान पूर्वक जो काम

करेगा उसे विहित कर्मों के उत्तम फलों से हर्ष होगा, निषेध कर्मों के निषिद्ध फल से दुःख होगा। उसकी बुद्धि सुख दुःख को ग्रहण करेगी, किन्तु जिनका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट ही हो गया है, उनकी बुद्धि पर सुख दुख का, जय पराजय, का विधि निषेध का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

अर्जुन ने पूछा—"तो क्या ऐसा समदर्शी निरहंकार भाव से किसी की हत्या भी कर सकता है?"

भगवान् ने कहा—किसी एक की नहीं, यदि वह समस्त चराचर लोकों की भी हत्या कर दे, तो न उसे कुछ दोष लगेगा और न वह उस कर्म में लिप्त ही होगा। सृष्टि के अन्त में रुद्र समस्त जीवों का संहार करते ही हैं। क्या वे दोष के भागी होते हैं? नहीं कदापि नहीं। विधि निषेध तो व्यवहार में है। योगी तो ऐसे व्यवहार से बहुत ऊँचा उठ गया है। इसलिये संसार के चर, अचर, स्थावर, जंगम सभी भूतों में जो मैं समभाव से स्थित हूँ। ऐसे मुझे जो योगी एकत्व भावना से निश्चय पूर्वक भजता है, वह योगी फिर चाहे कैसा भी वर्ताव करे। वह ब्रह्म में ही वर्त रहा है। माँ के पेट में बच्चा जो भी करे, वह सभी सह्य है, सभी क्षम्य है। वह इसलिये ब्रह्मभाव भावित योगी जो चाहे सो करें वे विधि निषेध से परे है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! हमने तो बहुत से ज्ञानियों को देखा है वे ज्ञान की पूर्ण स्थिति पर पहुँचकर भी दूसरों के दुःख को देखकर दुखी होते हैं, दूसरों के सुख में सुखी होते हैं। स्वयं आप ही हैं, हमारे दुखों को देखकर बार-बार काम्यवन में दौड़कर आते थे, स्वयं दुखी होते थे, हमें ढाँढस बँधाते थे। जब हमारा अभ्युदय होता था, तो परम सुखी होते थे। हमारे लिये

आप सारथी जैसा नीच कार्य कर रहे हैं। ऐसे समदर्शी लोगों में ज्ञान की कुछ कमी रह जाती है क्या ?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—अर्जुन ! तुम कमी की बात कहते हो, वास्तव में जो अपना ही दृष्टान्त रखकर ज्ञान होने पर भी लोगों के साथ वर्ताव करते हैं, वे तो योगियों के भी गुरु महायोगी परमयोगी योगिराज है। वे सुख-दुख की नाप अपने आप से ही करते हैं। जैसे कोई हमें गाली दे, तो वह हमें बुरी लगेगी, अतः हम भी किसी को गाली न दें। हमारी बहिन बेटी को कोई बुरी दृष्टि से देखे, तो हमें बुरा लगेगा, अतः हम भी किसी की बहिन बेटी को कुदृष्टि से न देखें। जैसे कोई हमारी उपयोगी वस्तु को चुरा ले जाय, तो हमें बुरा लगेगा, इसलिये हम भी किसी की वस्तु को न चुरायें। जो अपने को बुरा लगता हो ऐसे वर्ताव को दूसरे से नहीं करते। जो अपने को प्रिय लगता हो ऐसे धर्म पूर्वक व्यवहार को दूसरों के साथ करते हैं, ऐसे योगी सभी योगियों से श्रेष्ठ हैं, वे ही परम योगी माने गये हैं। अर्जुन ! तुम ऐसे ही आत्मौपम्य परमयोगी बन जाओ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब अर्जुन एक बड़ी उपयोगी शंका उठाकर भगवान् से प्रश्न करेंगे उसका वर्णन में आगे करूँगा।

छप्पय

सर्वभूत में एक भाव तैं समुझै जोगी।
रमै आतमा एक होहि त्यागी या भोगी॥
ब्रह्म सच्चिदानंद अखण्डहु अलख अगोचर।
वासुदेव ही समुझि भजतु समभाव निरन्तर॥
चाहे जो कारज करै, जैसी इस्थिति में रहै।
मोई में बरते सदा, सब प्रकार मोमें रहै॥

छप्पय

सबमें आत्मा एक होहि दुख सुख हू समई।
इस्तुति सुनि सुख होहि दुखी निंदा तैं सबई॥
जोगी अपनी भाँति सबनि में समता माने।
जैसो दुख सुख मोइ होहि सम सबकूँ जाने॥
जैसे जो सम भाव तैं, बरते सिद्ध समान है।
वास्तव में जोगी गुही, सब तैं परम महान है॥

अर्जुन का मन की चंचलता के सम्बन्ध में प्रश्न

[१७]

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥*

(श्री भग० गी ६ अ० ३३, ३४ श्लोक)

छप्पय

अब फिरि अरजुन कहन लग्यो—हे नाथ! सुनायो।
समता को जो जोग आपुने अबहिँ बतायो॥
मधुसूदन! वह जोग नहीं मेरे मन आवै।
जतन करूँ बहु बार तऊ मन में न समावै॥
छिन भरिकूँ मन में धँसै, तुरत फेरि बिसरातु है।
है मन चंचल अति चपल, दृढ़ता नहीं दिखातु है॥

---

* अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! आपने जो यह समत्व भाव से योग कहा है, इसको चंचल चित्त होने के कारण मैं स्थिर स्थिति में होवे

अष्टाङ्ग योग जो परम शांति-आत्मतत्व की प्राप्ति का मार्ग है। यह अत्यंत कठिन है। जीवों की स्वभाविकी प्रवृत्ति विषयों की ओर होती हैं। इन्द्रियाँ हठ पूर्वक विषयों की ही ओर दौड़ती हैं। इन इन्द्रियों को प्रमाथी अर्थात् मथन करने वाली बताया है। ये इन्द्रियाँ बल पूर्वक मन को अपनी ओर खींच लेती हैं। वैसे तो सभी इन्द्रियाँ परम प्रवल है, किन्तु इन दस इन्द्रियों में से उपस्थेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ये दो अत्यंत ही प्रवल हैं। रसनेन्द्रिय नित्य नये-नये रसों का आश्वादन करना चाहती है। यह योग मार्ग संसारी मार्ग से विपरीत मार्ग है। इन्द्रियाँ जो चाहती हों, उनकी बात मत मानों मन जो विषयों की ही ओर दौड़ता है, उसे रोको चित्त की जो विषयाभिमुख वृत्तियाँ है उन्हें हठ पूर्वक बलात् रोकने का ही नाम योग है। योग के पहिले दूसरे अंग हैं यम और नियम। यमनियमों का पालन किये बिना योग साधन हो नहीं सकता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम कहलाते हैं। शौच संतोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं।

पहिले अहिंसा को ही ले लीजिये। जिह्वा स्वादिष्ट पदार्थों का रसास्वादन करना चाहती है, फिर वे स्वादिष्ट पदार्थ कैसे भी क्यों न हों, कोई भी क्यों न लाया हो। उचित अनुचित किसी भी उपाय से क्यों न लाया गया हो। जिह्वा उसका रसास्वादन चाहती हैं। मांसहारी लोग कहते हैं, जिह्वा के सब रसों में मांस

हुए नही देखता हूँ ॥३३॥

क्योंकि हे श्रीकृष्णचन्द्र जी ! यह मन बडा चंचल है प्रमाथी, दृढ और बड़ा बलशाली है। इसे वश में करना मैं वायु की भाँति दुष्कर मानता हूँ ॥३४॥

सबसे अधिक स्वादिष्ट पदार्थ है। जो अहिंसा व्रती है, वह दूसरों को हिंसा करके लाये हुए इस अत्यंत गर्हित पदार्थ को क्यों खायगा। वह तो उसका स्पर्श करना भी महापाप समझेगा। फिर हिंसा खाने की ही नहीं होती है। मन से किसी से द्वेष करना, वाणी से किसी को कटु शब्द कहना। शरीर से किसी को आघात पहुँचाना ये सभी हिंसा के अन्तर्गत है। अतः अहिंसा व्रत के पालन में कितनी कठिनाई होती है।

अब दूसरा यम है सत्य। इस असत्य जगत् में पग-पग पर असत्य चलता है। मन से वाणी से तथा कर्म से जान में अनजान में कितना असत्याचरण होता रहता है। हम सत्य का पालन करना भी चाहें, तो हमारे साथी संगी व्यवहारी तथा सगे सम्बन्धी हमें भाँति-भाँति के उपदेश देते रहते हैं। अरे, भाई साँचाधारी बनने से कैसे काम चलेगा। संसार में तो सत्य असत्य सभी चलता है। इस लिये मनसा वाचा कर्मणा सत्य के आचरण में पग-पग पर कठिनतायें हैं।

तीसरा यम का अंग है अस्तेय, अर्थात् चोरी न करना। किसी की वस्तु को उसकी बिना अनुमति के आँख बचाकर या बलपूर्वक ले लेना इसी को चोरी कहते है। किन्तु चोरी इतनी ही नहीं। किसी से कहने योग बात को भय लोभवश न कहना यह भी वाणी की चोरी है। मन में कुछ और रखना, प्रकट कुछ और करना यह भी मानसिक चोरी है। शारीरिक चोरी तो प्रत्यक्ष चोरी है ही। हम इस संसार में चोरी से कैसे बच सकते हैं। हमारे चारों ओर चोर ही चोर तो बसे हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

किसी राजा के प्रधानमंत्री से दूसरे मन्त्रियों का द्वेष भाव था। वे राजा से प्रधानमंत्री के पीठ पीछे निन्दा किया करते

थे। एक दिन प्रधानमंत्री किसी दूसरे भाव से राज्य की वस्तु को घर ले गया। निन्दकों ने मिलकर राजा से कहा—महाराज, प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता मुख्यमंत्री अमुक वस्तु चुरा ले गये हैं। राजा ने उनके घर जाकर वह वस्तु पकड़ी। प्रधानमंत्री को कारावास में बंद कर दिया। प्राण दंड की आज्ञा सुना दी। मुख्यमंत्री बहुत ही बुद्धिमान था, फांसी देते समय उससे पूछा गया—"तुम्हारी जो अंतिम इच्छा हो कह दो।" उसने कहा—"मैं महाराज से एकान्त में मिलना चाहता हूँ।"

राजा ने उसकी इच्छा पूर्ति की। एकान्त में मन्त्री ने कहा—"महाराज, मैं एक बहुत ही गुप्त विद्या जानता हूँ। पेड़ों से मोती पैदा करना। अब तो मै मर ही रहा हूँ उस विद्या को मरते समय आपको बता देना चाहता हूँ।"

राजा को बड़ा कुतूहल हुआ। महीने भर के लिये उसका प्राण दंड स्थगित कर दिया गया। मन्त्री ने एक खेत तैयार कराया। थालो भर मोती बोने को राजमहल से मंगाये। मोतियों को तो उसने अपने घर भिजवा दिया। रात्रि में चुपके से उसमें जौ बुवा दिये। राजा नित्य देखने आता था, मोती उपजे या नहीं। ५-७ दिन में जौ उपज आये। एक दिन मंत्री ने प्रातः राजा को बुलाया। जौ के अंकुरों पर प्रातःकाल ओस के कण दीख रहे थे। मंत्री ने कहा—"अन्नदाता! मोती तो लग गये।"

राजा ने कहा—"तो इन्हें तोड़िये।"

मंत्री ने कहा—"महाराज! अभी ये मोती बहुत गीले हैं। कुछ दिनों में सूखकर कड़े हो जायेंगे। इन्हें वही उतार सकता है, जिसने कभी चोरी न की हो। मैं तो चोरी करने से इनके उतारने की योग्यता खो चुका हूँ, अब जिसने चोरी न की हो वही उसे उतार सकता है। जिसने एकबार भी जीवन में चोरी

री होगी, वह उतारेगा तो ये पानी बन जायेंगे।" राजा ने सभी मंत्रियों, कर्मचारियों, रानियों से कहा—किन्तु कोई उतारने को तैयार नहीं हुआ।

तब मंत्री ने कहा—"महाराज स्वयं ही क्यों नहीं उतार लेते।"

राजा ने कहा—"अरे, भाई हमने तो न जाने कितने बार भावों की बातों की और भी वस्तुओं की चोरियाँ की है, हम कैसे उतार सकते हैं?"

तब हाथ जोड़कर मुख्य मंत्री ने कहा—"अन्नदाता! जब सभी ने चोरी की है, तो मैंने कौन-सी नयी बात करदी। मुझ अकेले को ही प्राण दंड क्यों दिया जा रहा है। सभी को प्राण दंड दिया जाय।"

राजा मंत्री की बुद्धिमानी से प्रसन्न हुआ उसे क्षमा कर दिया गया। अब बताइये ऐसे संसार में अस्तेय धर्म का हम लोगों के लिये पालन कितना कठिन है।

चौथा यम ब्रह्मचर्य है। प्रत्यक्ष मैथुन न करने को ही ब्रह्मचर्य नहीं कहते। दर्शन, स्पर्श, आलाप, गुह्य, गुह्यभाषण कामुक चेष्टायें, हँसी विनोद आदि जो कामोद्दीपक चेष्टायें है, ऐसे अष्ट-प्रकार के मैथुनों से सदा बचे रहने को ब्रह्मचर्य कहते है। इस संसार में रहते हुए इनसे सर्वथा बचे रहना कैसे दुष्कर कार्य है।

पाँचवा यम अपरिग्रह है। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का न संग्रह करना, न किसी से याचना करना, न मन से संग्रह की इच्छा रखना। इसमें कितने भारी मनोबल की आवश्यकता है। इसी प्रकार शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ये पांच नियम है।

जीव स्वभाव से अशौच प्रिय है। जैसी दशा में जहाँ पर

जो भी कुछ खाद्य पदार्थ मिला पशुओं की भाँति खा लेना जीव का स्वभाव है। भीतर और बाहर की स्वच्छता रखना पवित्रता पूर्वक रहना, इस मलों के थैले रूप अपवित्र शरीर में बड़ा कठिन है। पग-पग पर तो इसमें अशुचिता है। सर्वत्र तो इसमें दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध भरी है। जब तक प्रबल प्रयत्न पूवक समस्त नाड़ियों में से मल न निकाल दिया जाय, तब तक शौच की सिद्धि कैसे संभव है।

दूसरा नियम है संतोष-भगवत् इच्छा से-प्रारब्ध कर्मानुसार जो भी भोग वस्तुएँ प्राप्त हों, उन्हीं में सन्तुष्ट रहने को संतोष कहते हैं। किन्तु जीव का स्वभाव तो इसके विपरीत है। उसे कितना भी मिल जाय, फिर भी मन में तो यह इच्छा बनी ही रहती है, यह भी मिल जाय, वह भी वस्तु आ जाय। यह भी मेरी हो जाय। जिसे संतोषरूपी धन की प्राप्ति हो गयी, उसके लिये सभी दिशायें सुख मय बन जाती हैं। किन्तु संतोष का होना सरल नहीं।

तीसरा नियम तपस्या है। जीव तो शरीर को सुख में रखना चाहता है। तप में तो शरीर को तिलतिल करके पताना पड़ता है। कितने क्लेशों को सहन करके तपस्या की जाती है, सर्व-साधारण मनुष्य तो तप के नाम से ही भयभीत हो जाते है।

स्वाध्याय चौथा नियम है। वेदों के सूक्तों की, मंत्रों की पुनः-पुनः आवृत्ति का नाम स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अभ्यास भूख प्यास, शीतउष्ण आदि को सहकर अत्यन्त ही कष्ट से किया जाता है।

पांचवा नियम है ईश्वर प्रणिधान। भगवान् पर विश्वास रख कर योग क्षेम की तनिक भी चिन्ता न करना। किन्तु यह जीव तो अपने को ही सबसे बड़ा कर्ता मान बैठा है। जिसे भग-

वान् पर विश्वास हो गया, उसके लिये फिर कर्तव्य शेष ही क्या रह गया।

इन यम नियमों में से एक किसी का भी दृढ़ता से पालन करले तो उसी की मुक्ति हो जाती है। जैसे जीव मात्र की हिंसा से मनसावाचा कर्मणा निवृत्त हो जाय, तो सब प्राणी उसके प्रति स्वाभाविक वैर का त्याग देंगे। प्राणिमात्र में उसकी समबुद्धि हो जायगी। समत्वका ही नाम योग है। इसी प्रकार सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान इनमें से किसी भी एक में पूरी निष्ठा दृढ़ हो जाय तो आत्म साक्षात्कार हो सकता है। योग दर्शनकार ने तो इन सबको अंगो न मानकर योग के अंग मात्र ही माना है। अष्टांग योग में तीसरा अंग है आसन।

आसन को कोई-कोई प्रथम अंग ही मानते हैं। उनका कहना है, कि यम नियम, तो चाहे कर्म योग हो, ज्ञान योग हो अथवा भक्तियोग हो सभी मे आवश्यक है। यह जो समाधि योग है। यह अष्टाग न होकर पडाङ्ग, अतः आसन से ही योग आरम्भ होता है। आसनों का अभ्यास भी सरल नही। जितनी योनियाँ हैं उतने ही आसन है अर्थात् चौरासी लाख। इनमें भी ८४ आसन मुख्य हैं। उनमें भी पद्म, स्वस्तिक, पीठ, सिंह, कुक्कुट, कुंजर, कूर्म, वज्र, व्याघ्र, अर्धचन्द्र, दण्ड, गरुड़, शूल, खड्ग, मुद्गर, मकर, त्रिपथ, काष्ठ, स्थाणु, हस्तकर्णिका, भीम, वीर, वाराह, मृगवैणिक, क्रौंच, अनालिक और सर्व तो भद्र ये सत्ताईस आसन मुख्य है। इनमें से भी पद्मासन, सिद्धासन या पीठासन, स्वस्तिकासन या सुखासन ये तीन आसन मुख्य हैं। साधक इन तीन आसनों में से किसी आसन में बैठकर योगाभ्यास किया करते हैं।

जीव का स्वभाव है, कमर लचाकर बैठना। मूलाधार चक्र से सब नाड़ियाँ शरीर में इधर-उधर गयी है। यदि शरीर तना रहे, तो उसे वृद्धावस्था जन्म कष्ट न झेलना पड़े। आसन बाँधने पर मूलाधार से लेकर ऊपर का सम्पूर्ण शरीर, पीठ, ग्रीवा और सिर तने हुए सम बने रहें। घुटने भूमि से सटे रहें कमर लचने न पावे फिर भी ऐसे बैठे रहने पर ऊब न हो सुख की अनुभूति हो, तभी समझना चाहिये आसन ठीक बना। ऐसे आसन से बिना क्लेश के बिना कमर लचाये दो प्रहर स्थिर बैठा रहे तो समझना चाहिये इसे आसन सिद्ध हो गया। यह योग करने का अधिकारी बन गया। इसीलिये आसन को वाह्य साधन कहा।

अब अष्टांग योग का चौथा अङ्ग है प्राणायाम। प्राणों का आयाम-श्रम या (कसरत) को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम से वात् पित्त और कफ सम्बन्धी जितने दोष हैं वे सब नष्ट हो जाते है। साधारतया पूरक, कुम्भक, और रेचक तीन प्राणायाम के प्रकार हैं। इनके अतिरिक्त भस्त्रा, शीतली करणी आदि प्राणायाम के कई भेद हैं, किन्तु इन सबमें पूरक कुम्भक और रेचक ये ही तीन प्रकारान्तर से करनी पड़ती हैं। महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र रूप में योगाङ्गों का जैसा सुदर प्रभावोत्पादक वर्णन किया है, वैसा कहीं भी देखने को नहीं मिला। वैसे तो विष्णुपुराण ६ अंश के ७ वें अध्याय में खांडिक और केशिध्वज के संवाद में, गरुड़पुराण के चौदहवें अध्याय में, मार्कण्डेयपुराण में योग चिकित्सा नाम के ३१ वें अध्याय में, ब्रह्मपुराण के शिव-स्कन्द संवाद रूप यम नियम प्राणायामादि कथन नामक १२ वें अध्याय में तथा लिंगपुराण आदि भिन्न-भिन्न पुराण उपपुराणों में, हठयोग प्रदीपिक, घेरंडसंहिता आदि अनेक योग सम्बन्धी ग्रन्थों में इस विषय का विशद वर्णन किया गया है। किन्तु पातंजलि

भगवान् ने जैसा स्पष्ट और संक्षिप्त प्रांजल भाषा में छोटे-छोटे सूत्रों में इसका वर्णन किया है वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा उपादेय है। प्राणायाम का वर्णन करते हुए वे कहते हैं, आसन के स्थिर होने पर प्राणायाम करना चाहिये। श्वास और प्रश्वास जो प्राण और अपान के द्वारा होते हैं। जिन श्वास प्रश्वास के लिये पुरुष को प्रयत्न नही करना पड़ता है। ये स्वाभाविक ही चलते रहते हैं, उसका एक साथ ही विच्छेद–निरोध हो जाना उसी को प्राणायाम कहते हैं।

वह निरोध कैसे होता है। पूरक उसे कहते हैं जो बाहर की वायु को स्वास नलिका द्वारा भीतर ले जाया जाय। रेचक उस कहते है, जो भीतर की वायु को नासिका द्वारा बाहर फेंक दिया जाय। कुम्भक उसे कहते हैं, न भीतर की वायु को बाहर आने दिया जाय और न बाहर की वायु को भीतर ले जाया जाय। इस प्रकार बाह्य और भीतर के भेद से कुम्भक दो प्रकार का हुआ। जैसे हमने भीतर की वायु को तीव्र गति से बाहर निकाल दिया। वायु निकाल कर वहीं रुका रहे स्वास नहीं ली, तो यह बाह्य कुम्भक हुआ। फिर भीतर की वायु को खूब वेग से जितनी ले जा सकते है, उतनी भीतर ले गये और जैसे-कुम्भ-घड़े–में कोई भर कर उसका मुंह बन्द कर दे, उसकी वस्तु को बाहर न जाने दें ऐसे ही प्रश्वास द्वारा वायु को बाहर न जाने दे कर भीतर ही रोके रखें, इसे अभ्यान्तर या भीतरी कुम्भक कहते हैं। पूरक प्राणाम बाह्य वृत्ति है क्योंकि बाहर की गति का निरोध किया जाता है। इसी प्रकार रेचक भीतरी वृत्ति है, क्योंकि भीतर की वायु बाहर निकाली जाती है। कुम्भक में न भीतर की वायु बाहर आने पाती है, न बाहर की भीतर जाने पाती है, इसलिये इसका नाम स्तम्भवृत्ति है। अर्थात् वायु को

स्तम्भित किया जाता है, रोका जाता है। इस प्रकार पूरक कुम्भक और रेचक यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या के परीक्षा किये जाने पर "दीर्घ सूक्ष्म" संज्ञा वाला होता है।

दीर्घ सूक्ष्म इसका नाम क्यों होता है इसलिये कि देश, काल और संख्या की न्यूनता अधिकता से अभ्यास के द्वारा श्वास सूक्ष्म भी हो जाता है और दीर्घ भी हो जाता है। जैसे सर्वसाधारण का श्वास हृदय से बाहर नासिका के छिद्र द्वारा निकल नासाग्र भाग से १२ अंगुल में जाकर समाप्त हो जाता है। फिर १२ अंगुल जाकर पीछे लौटता है और हृदय में समाप्त हो जाता है। बाहर निकलने वाली वायु को श्वास तथा भीतर जाने वाली को प्रश्वास कहते हैं। इसे ही प्राण अपान भी कहते हैं। बिना प्रयत्न के यह श्वास प्रश्वास क्रिया चलती रहती है। सर्वसाधारण की श्वास हृदय देश से निकलती है, क्योंकि हृदय से नीचे के चक्र मल द्वारा रुंधे रहते हैं। अभ्यास करने से नाड़ियों का मल निकलने लगता है, तो श्वास नाभि से अथवा मूलाधार स्थान गुदा से निकलने लगती है और बाहर बारह अंगुल के स्थान में चौबीस या छत्तीस अंगुल पर्यन्त जाती है और उसी वेग से यह भीतर भी जाती है। क्योंकि वायु निकलने के स्थान से मूलाधार स्थान ३६ अंगुल ही है जब नासिका से श्वास ३६ अंगुल पर्यन्त जाने लगे तब समझो मूलाधार की शुद्धि हो गयी। कुम्भक जितना ही बढ़ता जायगा, उतनी ही भीतर की शुद्धि होती जायगी। जब श्वास प्रश्वास लेने की आवश्यकता ही न रह जाय, केवल कुम्भक से ही काम चल जाय भीतर की वायु भीतर ही विलीन हो जाय, तो समझना चाहिये प्राणायाम सिद्ध हो गया। अष्टांग या षडांगयोग आसन और प्राणायाम बाह्य साधन ही हैं। इनका सम्बन्ध केवल बाह्य शरीर शुद्धि से ही है। जब तक शरीर शुद्ध न होगा, तब तक कोई साधन हो ही नहीं

सकता। क्योंकि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थ में कारण शरीर है। अतः शरीर शुद्धि आसन प्राणायाम द्वारा करके प्रत्याहार द्वारा मन को रोकने का प्रयत्न करे। विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को उन-उन विषयों से रोककर मन के निग्रह के प्रयत्न को प्रत्याहार कहते हैं। मन बार-बार भगेगा। उसे फिर-फिर इधर-इधर से रोक कर लाने का ही नाम प्रत्याहार है। आसन और प्राणायाम बाह्य साधन हैं। धारणा, ध्यान और समाधि अभ्यान्तर साधन हैं। वह प्रत्याहार इन दोनों को मिलाने वाली कड़ी है। जैसे देहली पर रखा दीपक बाहर भी प्रकाश फैलाता है और घर के भीतर भी। इसी प्रकार प्रत्याहार बाह्याभ्यान्तर मिला जुला है।

इस प्रकार अभ्यास करने पर बहुत से विघ्न भी उपस्थित हो जाते है। उन्हें योग का अन्तराय कहते हैं। उनमें आलस्य, रोग व्याधि, प्रमाद, संशय, चित्त की अनावस्थिति, अश्रद्धा, भ्रान्ति तथा त्रिविध दुख आदि मुख्य हैं। इन सब को बड़ी सावधानी से जीत कर तब धारणा होने लगती है। जिस प्रकार प्राणायाम से वात, पित्त तथा कफ सम्बन्धी दोषों का शमन हो जाता है, उसी प्रकार धारणा से जन्म जन्मान्तरों के पापों का शमन हो जाता है। जिसकी 'धारणा' सिद्ध होने लगती है, उसका प्रवेश अन्तर्लोकों में होने लगता है। फिर वह साधक इस लोक में होने वाले संताप दुःख तथा विषय लालसा से ऊपर उठ जाता है। उसका यह स्थूल शरीर भी दिव्य हो जाता है। उसे संसारी विषयों के प्रति लोलुपता नहीं रहती। शरीर में किसी भी प्रकार का रोग नहीं रहता, शरीर अत्यन्त ही मृदु हो जाता है, शरीर में से सुगन्ध आने लगती है। मल मूत्र होता ही नहीं। होता है भी तो अत्यल्प। शरीर कान्तिवान बन जाता है, सर्वथा

मुखमंडल पर प्रसन्नता झलकती रहती है। स्वर बडा ही मधुर कोमल बन जाता है, सब लोग स्वाभाविक अनुराग करने लगते है, पीठ पीछे लोग प्रशंसा करते है, उससे किसी को भय नहीं लगता, वह भी किसी से डरता नहीं, उसे शीत ऊष्ण की बाधा नही होती। यह सब तो हो जाता है, उसे बाह्य संसार की किसी वस्तु से किसी प्रकार की आशंका नही रहती, किन्तु अन्तर्जगत की समस्त सिद्धियाँ उसके सम्मुख आकर उपस्थित हो जाती है। धारणा सिद्ध योगी, पंचभूत आदि सूक्ष्म भूतों में जहाँ भी धारणा कर लेता है, वह सूक्ष्म होने से उसी का रूप हो जाता है। जैसे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पंचतन्मात्रायें है योगी उनमें ही मन को लगा दे तो पत्थर के भीतर ही प्रवेश कर सकता है। शरीर की सिद्धियाँयें अणिमा (सूक्ष्म अणु बन जाना) महिमा (बडा बन जाना) लघिमा (सूक्ष्म से सूक्ष्म हो जाना) तीन सिद्धियाँ हैं। प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता, काम वसायिता ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भूख प्यास न लगना, दूर का बात सुन लेना, देख लेना जहाँ चाहें तत्काल पहुँच जाना, इच्छानुरूप स्वरूप बना लेना, परकाय प्रवेश, इच्छानुसार शरीर त्यागने की शक्ति, देवलोक को अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करना, देवताओं के साथ विहार करना, जो संकल्प करे उसी की सिद्धि हो जाना, जिसे जो करने को कह दे वह तत्काल करे। त्रिकाल का ज्ञान, निर्द्वन्द्व हो जाना, पर मन की बात जान लेना, अग्नि जल सूर्य तथा विष को शक्ति को स्तम्भित कर देना आदि सभी सिद्धि धारण सिद्ध योगी के सम्मुख आती है। इन सिद्धियां से एक ही लाभ है, योगी को यह ज्ञान हो जाता है, कि मै यथार्थ योग मार्ग पर चल रहा हूँ। बस, इसके अतिरिक्त इन सिद्धियों से कोई लाभ न उठावें।

यदि इन सिद्धियों के चक्कर फँस गया, तो मानो उसका आगे का मार्ग रुक गया। योग पर आरूढ़ हो जाने पर भी साधक सिद्धियों के चक्कर में फँसकर नीचे गिर जाते हैं। महर्षि सौभरि सिद्धियों के ही चक्कर में तो फंस गये ५० विवाह किये और ५ सहस्र पुत्र उत्पन्न किये। इसलिये सिद्धियों से सदा बचते रहना चाहिये।

धारणा जब किसी एक लक्ष्य में दृढ़ हो जाती है, तो उसी का नाम ध्यान हो जाता है, अर्थात् धारणा की परिपक्वावस्था का ही नाम ध्यान है और ध्यान की परिपक्वावस्था का ही नाम समाधि है। समाधि ही अष्टांगयोग की अन्तिम सीढ़ी है। समाधि में न किसी प्रकार की दुःख की अनुभूति है, न क्षोभ, न उस अवस्था में कोई अंग हिलता डुलता है और न श्वास-प्रश्वास ही लिया या छोड़ा जाता है। समस्त क्लेशों की, समस्त पाप-पुण्य कृत कर्मों की निवृत्ति हो जाती है। समाधिनिष्ठ योगी को न किसी प्रकार का क्लेश दुःख होता न उसे कर्मों का ही बन्धन रहता है। उसके शुभ अशुभ सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं। वह निरतिशय सुख का अनुभव करता है। वह सबको अपनी आत्मा में देखता है और अपनी आत्मा का दर्शन सभी में करता है। वह जब सबमें अपने को ही देखता है तो दूसरों की निन्दा ही क्यों करने लगा। फिर उसे शोक मोह आदि होंगे ही क्यों। उसकी दृष्टि समत्व में स्थित हो जाती है। वह सर्वत्र आत्मौपम्य मानकर सबमें आत्मवत व्यवहार करता है। वही समत्व बुद्धि वाला परम योगी कहलाता है। यह योग अत्यन्त ही कठिनता से-रात्रिदिन के परिश्रम से-प्राप्त करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने समत्व योग का विस्तार से वर्णन किया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम,

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का महत्व बताया तब अर्जुन ने कहा—मधुसूदन ! आपने जो समत्व बुद्धि से जिस सम दृष्टि योग का वर्णन किया है मेरा मन स्थिर स्थिति में दिखायी नहीं देता ।"

भगवान् ने पूछा—क्यों ? क्या बात है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! अपने मन की चंचलता के कारण यह योग मुझे दुरूह दीखता है। हे श्रीकृष्ण ! यह मन बड़ा चंचल है, यह प्रमथनशील है। यह इन्द्रियों को क्षुभित कर देता है। सब इन्द्रियों को प्रमथित कर देता है। और साथ ही यह बड़ा बलवान् है। क्षण भर में कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है।

भगवान् ने कहा—"तो भैया इस मन का निग्रह करो इसे अपने वश में लाओ।"

अर्जुन बोला—"भगवन् ! कहना सरल है, करना अत्यन्त कठिन है। इस मन को रोकना तो मैं ऐसा मानता हूँ, जैसे कोई गठरी में वायु को बाँधकर रोक रखे। वायु को रोकने के सदृश ही इस मन का रोकना बहुत ही दुष्कर है। ऐसी मेरी अपनी मान्यता है। इसे रोकने की मनुष्य की तो अपनी निजी शक्ति है नहीं। हाँ, आपका नाम कृष्ण है अर्थात् भक्तों के पाप आदि दोषों का कर्षण-निवारण-करने में आप समर्थ हैं। आप भक्तों को अपनी ओर स्वतः ही आकर्षण करने में समर्थ हैं। हाँ आप चाहें तो मन तनिक देर में वशीभूत हो सकता है। वैसे हम लोग अपने पुरुषार्थ से इसे वश में करना चाहें, तो असम्भव सा ही दिखायी देता है। अतः इस मन को वश में करने का कोई सरल-सा सुगम-सा साधन बता दीजिये। जिससे यह अत्यन्त दुरूह मन किसी प्रकार वश में किया जा सके।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।"

छप्पय

कृष्ण ! कहाँ तक कहूँ अधिक मन चंचल भारी ।
मथनी जैसे दही मथै तस जागति न्यारी ॥
है इतनो बलवान पार जाते नहिँ पावैँ ।
बड़े-बड़े बलवान हार जाई तैँ खावैँ ॥
बल तैँ निग्रह वायु को, रोकन अतिई कठिन ज्यों ।
अति ई चंचल चित्त को, दुष्कर निग्रह नाथ त्यों ॥

अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन वश में किया जा सकता है

[१८]

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ३५, ३६ श्लो०)

छप्पय

हँसि बोले भगवान—पते की बात कहो तुम।
है मन चंचल बहुत बात स्वीकार करें हम॥
महाबाहु ! सन्देह रहित तुम बात कही है।
मन तैं चंचल अन्य नहीं यह बात सही है॥
करै नित्य अभ्यास अति, भोगनि में वैराग्य बड़।
वश में है जावे चपल, अति प्रमाथि यह अज्ञ जड़॥

---

* इस पर श्रीभगवान् कहने लगे—हे महाबाहो ! तुम ठीक कह रहे हो, यह मन दुर्निग्रह और चञ्चल है, फिर भी कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा यह वश मे किया जा सकता है ॥३५॥

जो असयमी लोग हैं, उनके द्वारा यह योग दुष्प्राप्य है, किन्तु जो संयमी हैं, प्रयत्नशील हैं, उनके द्वारा उपाय करने से सहज ही वश में किया जा सकता है, ऐसा मेरा मत है ॥३६॥

आलस, राग और असंयम ये ही तीन संसारी बंधन के कारण हैं। मनुष्य पुण्य करना नहीं चाहता किन्तु पुण्य का जो फल सुख है उसे भोगना चाहता है और पाप सदा करता रहता है, किन्तु पाप का जो फल दुख है उसे सहन करना नहीं चाहता। जीव काम करने से कतराता है। वह चाहता है, मैं केवल आलस्य में पड़ा रहूँ सोता रहूँ। शरीर को कष्ट न उठाना पड़े। ऐसे पुरुष परमार्थ पथ के पथिक नहीं बन सकते। वे तो यहीं इसी लोक में पुन:-पुन: जन्मते मरते और दुख उठाते रहेंगे।

संसार में हमें राग ही बाँधकर रखता है। सब से बड़ा राग विषयों के उपयोग का होता है। इन्द्रियों के विषयों में प्राणी इतना अधिक अनुरक्त हो जाता है, कि वह परलोक भी कोई वस्तु है, इसे भूल जाता है। आठों प्रहर वह विषयों को जुटाने की चिंता में ही लगा रहता है।

दूसरा राग इस शरीर में होता है। संसारी लोग अपने शरीर को ही सब कुछ समझते हैं। आत्मा परमात्मा जो भी कुछ है, यह शरीर ही है। अपना शरीर सुखी रहे, इसके लिये भले ही दूसरों को दुखी होना पड़े। प्राणी की आन्तरिक अभिलाषा रहती है, मै कभी मरूँ नहीं। शरीर के राग में ऐसा तन्मय हो जाता है, कि मृत्यु को भूल ही जाता है। उसे यह सोचने का भी अवकाश नहीं रहता, कि कभी हमें मरना भी है। कोई कहता भी है—"कि लालाजी एक दिन मरना है।" तो वह तुरन्त कहता हैं—"मरें मेरे शत्रु कहने वाला मरे, मैं क्यों मरूँ।" उसे मृत्यु का नाम सुनने से भी चिड़ है, मृत्यु को वह सदा भुलाये रहता है। जितने भी पाप अनर्थ होते हैं, वे सब मृत्यु को ही भूलकर होते हैं। यदि प्राणी सदा सर्वदा मृत्यु का स्मरण रखे, तो उससे बहुत ही कम पाप होंगे, किन्तु मृत्यु तथा बुढ़ापा को

मनुष्य सदा भुलाये रहता है, इसीलिये कुष्ठी होने पर भी शरीर को प्राणी स्वेच्छा से छोड़ना नहीं चाहता।

तीसरा सब बड़ा राग कुटुम्ब परिवार तथा सुहृद् और मित्रों का है। हाय! हमारा वह भाई हमसे बिछुड़ गया। परिवार के लोग चाहे पीड़ा ही पहुँचायें, किन्तु कैसे भी सही, अन्त में हैं तो अपने भाई ही। बन्धुओं का जो सहज स्नेहानुबन्ध है उसका त्यागना मुनियो के लिये भी दुर्लभ है।

चौथा राग स्त्री का पुरुष के प्रति तथा पुरुष का स्त्री के प्रति है। यह राग ऐसा दृढ़ है कि इसकी कोई दूसरी उपमा नहीं ब्रह्माजी ने इस जोड़ा की–मिथुन की–सृष्टि ही मोह बढ़ाने के लिये की है। स्त्री में पुरुष के प्रति और पुरुष में स्त्री के प्रति इतना अधिक राग न होता, तो यह संसार चलता ही नहो। दोनों के हृदय में अशरीरी अनंग–बैठकर दोनों के मन को मथता रहता है, इसीलिये काम को मन्मथ कहा गया है।

पांचवा राग समाज का है। यह प्राणी सामाजिक जन्तु है। इसे चहल-पहल चाहिये, हँसी खेल को मन बहलाव को साथी चाहिये। अकेले रहने में इसे ऊब लगती है। इसीलिये कारागारों में जो बन्दी अपराध करते हैं, उन्हें दंड के रूप में एकान्त वास–काल कोठरी–दी जाती है। प्राणी जहाँ रहेगा, वहीं अपनी प्रकृति के अनुरूप समाज बना लेगा। यदि ये पाँच राग छूट जायँ। शरीर के प्रतिप्रीति न होकर भगवान् के प्रति प्रेम हो जाय। हृदय में जन्ममरण का भय बना रहे। संसारी बन्धु-बान्धवों के प्रति ममता न हो। हृदय में कामवासना की अग्नि न दहक कर मन मन्मथ के विकार से रहित बना रहे और संसारी समाज के प्रति उदासीनता होकर एकान्त में सुखानुभूति हो

जाय, तो समझो यह व्यक्ति पुण्य परमार्थ पथ का पुनीत पथिक बन गया।

नित्य संयम के साथ अव्यग्रचित्त होकर निरालस्यभाव से परमार्थ साधनों का अभ्यास करता रहे और संसारी विषयों से विरक्त बना रहे ऐसा व्यक्ति अवश्य ही मुक्ति का-भगवद्धाम का अधिकारी बन जायगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने कहा—भगवन्! यह चित्त तो बडा ही चंचल है, इसे वश में करना अत्यन्त ही दुष्कर कर्म है, तो इस बात पर भगवान् ने अर्जुन को डाँटा-डपटा नहीं हँसकर उसकी बात का समर्थन करते हुए कहने लगे—हे कौन्तेय! तुम्हारा कथन सत्य है। जैसा तुमने मन को चंचल, प्रमाथी और महाबलवान् बताया है, यह मन ऐसा ही है। इसका निग्रह करना-इसे सर्वथा अपने वश में रखना-बहुत कठिन है। निः सन्देह यह अत्यन्त ही कठिनता से वश में होने वाला जन्तु है। यह काष्ठ की तथा पत्थर आदि जड़ पदार्थों की भाँति एक ही स्थान पर पडा रहने वाला नहीं है। चल है, चंचल है, चपल है तथा चारों ओर भागते रहने वाला है। ऐसा होने पर भी यह वश में किया जा सकता है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ऐसा महान् चंचल चित्त कैसे वश में किया जा सकता है? इसे वश में करने के कौन से उपाय हैं?"

भगवान् ने कहा—"इसे वश में करने के दो ही उपाय हैं।"

अर्जुन ने पूछा—वे दो कौन-कौन से उपाय हैं?

भगवान् ने कहा—"एक तो अभ्यास और दूसरा वैराग्य।"

अर्जुन ने पूछा—अभ्यास किसे कहते है?

भगवान् ने कहा—साध्य वस्तु की सिद्धि के निमित्त जो साधन किया जाता है, उस साधन को दीर्घकाल तक निरन्तर,

विना अकुलाये श्रद्धापूर्वक बार-बार करते रहने का ही नाम अभ्यास है।

अर्जुन ने पूछा—"तो वह अभ्यास सब कुछ छोड़कर हठपूर्वक बिना विश्राम के निरन्तर करता ही रहे ?"

भगवान् ने कहा—"देखो भाई ! यह पथ ऐसा है, इसमें त्वरा करने से—हठ करने से—भी काम न चलेगा। इसमें तो दृढ़निष्ठा की आवश्यकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"दृढ़निष्ठा क्या ?"

भगवान् ने कहा—दृढ़निष्ठा यही कि जो मैंने श्रेय का मार्ग निश्चित कर लिया है, उसे करके ही मानूँगा। उसे धैर्य के साथ, विश्वास के साथ बिना व्यग्र हुए दृढ़तापूर्वक करते रहना चाहिये। मन में यह दृढ़ता रखे, कि अभ्यास के सम्मुख कोई भी कार्य असम्भव नहीं। देखो, सूत को, मूँज को अथवा अन्य तृणों को बँटकर बनायी हुई रस्सी कितनी कोमल होती है। पत्थर कितना कठोर होता है, किन्तु बार-बार के अभ्यास से मृदुल रस्सी से भी पत्थर कट जाता है। अभ्यास के सम्मुख कठिन से कठिन कार्य सरल बन सकता है। इसलिये अभ्यास को क्रम-क्रम से बढ़ावे। अभ्यास काल में त्वरा न करे, हठ न करे, समय की चिन्ता न करे, अपने को अजर अमर मानकर ही अभ्यास करे। उसमें अन्तराय न आने दे। यह नहीं कि आज किया, दो दिन के लिये छोड़ दिया और जो साधन करे उसमें श्रद्धा विश्वास रखकर करे, कि मैं इस साधन में अवश्य ही सफल हो जाऊँगा। इस प्रकार के नित्य-नित्य के अभ्यास से चंचल, प्रमथि दृढ़ और बलवान् मन भी वश में किया जा सकेगा।

अर्जुन ने पूछा—वैराग्य किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—मन किसी रँग में रँगा हुआ हो, उस रंग

को धोकर स्वच्छ बनाने के साधन का नाम वैराग्य है। यह मन विषयों के संसर्ग से देखी हुई अनुभव की हुई तथा सुनी हुई बातों में रँग जाता है। उन्हीं के अनुरूप रंग इस पर चढ़ जाता है। उस रंग को विवेक द्वारा, साधु संग द्वारा, शास्त्रचिन्तन तथा अध्यात्म विद्या की प्राप्ति द्वारा धो डालने का ही नाम वैराग्य है। जिन असत् पदार्थों से मन का लगाव हो गया हो, उसे उनसे दूर हटा लेना ही विषय वितृष्णा या वैराग्य है। एक ओर तो परमार्थ साधनों में सतत जुटा रहे, दूसरी ओर देखे सुने तथा अनुभव किये हुए विषयों से मन को हटाता रहे, तो अभ्यास वैराग्य इन दो उपायों से मन वश में हो सकता है।

अर्जुन ने पूछा—"यदि मन को वश में करने के झंझट को छोड़कर साधन में ही लगा रहे तो कैसा है।"

भगवान् ने कहा—समस्त अनर्थों की जड़ तो यह चंचल मन ही है। मन ही बन्धन तथा मोक्ष में कारण है। जिन्होंने संयम साधनों द्वारा मन को वश में नहीं किया है, जो असंयतात्मा पुरुष हैं, उनको तो योग दुष्प्राप्य है। संयम ही तो मन की एकाग्रता में मूल कारण है। असयमी लोगों का मन एकाग्र हो ही नहीं सकता और जब तक मन एकाग्र नहीं हुआ तब तक सभी साधन व्यर्थ है। अतः प्रबल प्रयत्न पूर्वक मन को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"हम प्रयत्न तो करते है, किन्तु प्रारब्ध कर्म बीच में अन्तराय आ जाते हैं, हमारे प्रयत्नों को सफल नहीं होने देते ऐसी स्थिति में प्रयत्न करना–पुरुषार्थ करना–फिर व्यर्थ सा ही है।"

भगवान् ने कहा—किसी को अपने प्रारब्ध के लेख को पढ़ना तो नहीं आता। जो प्रारब्ध को पढ़ लेता है। भूत, भविष्य और

वर्तमान तीनों की बात जान लेता है, वह तो आप्तकाम त्रिकालज्ञ सिद्ध पुरुष ही है। उसके लिये तो पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता ही नहीं। वह तो जीवन्मुक्त ही है, वह तो प्रारब्धानुसार समस्त शरीर की चेष्टायें करता है। किन्तु जो त्रिकालज्ञ नहीं है। जो पूर्वजन्म के सुकृतों के द्वारा परमार्थ पथ का पथिक बनकर साधन में तत्पर हुआ है। उसे आगे क्या होगा इसका तो पूरा ज्ञान है नहीं। ऐसे साधक को साधन में चाहें जितने विघ्न आवें, उसे निराश नहीं होना चाहिये। वह यही सोचता रहे, इस विघ्न के पश्चात् मेरा मार्ग सुकर हो जायगा। विघ्न मेरा कर ही क्या सकेंगे, कितने भी विघ्न मेरे पथ में आकर रोड़ा अटकावें, मैं उन सबको पार करके अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ता ही जाऊँगा, बढ़ता ही जाऊँगा। ऐसा दृढ़ निश्चयी साधक इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, अगले जन्म में नहीं तो उससे अगले जन्म में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेगा। इस प्रकार साधनों द्वारा अपने मन को वश में करने का प्रयत्न करता हुआ साधक किसी न किसी दिन इस समता योग को प्राप्त कर ही लेगा। महाबाहो! अर्जुन! यही मेरा मत है।

देखो, जिनकी बाहु छोटी हैं, निर्बल हैं अर्थात् जो काम करने में कतराते हैं, आलस्य करते हैं, वे तो समता योग को प्राप्त कर नहीं सकते, किन्तु मेरी बूआ के बेटा अर्जुन! तेरी तो बाहु विशाल हैं, तू तो बड़ी-बड़ी बाहुओं वाला है। तू आलस्य मत कर साहस को न छोड़। निरन्तर पुरुषार्थ करता जा, करता जा। साधन में उत्साह पूर्वक प्रवृत्त हो जा। प्रयत्नशील पुरुष के लिये कुछ भी असंभव नहीं। पुरुषार्थ के सामने प्रारब्ध कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती। पुरुषार्थी सब कुछ कर सकता है, शास्त्र ने जिस कार्य को हेय या त्याज्य कहा है उधर पुरुषार्थ मत करो।

पुरुषार्थ शास्त्रोय कर्मों की ही ओर करो। वासनायें दो प्रकार की होती है, एक शुभ वासनायें दूसरो अशुभ वासनायें। वैसे तो दोनों ही वासनायें त्याज्य हैं, किन्तु शुभ वासनायें परमार्थ की ओर ले जाने वाली हैं। शुभ कार्यों को करने से अन्तःकरण की शुद्धि होतो है। जैसे यज्ञ, दान, तप आदि। पुरुषार्थ इन्हीं कार्यों क लिये करना चाहिये। इन्हें करते-करते जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, तब इन्हें भी छोड़ देना चाहिये। और जिस बुद्धि से ग्रहण त्याग होता है, अन्त में उसे भी त्याग देना चाहिये। येन-त्यजासितत् त्यज। इसलिये योग की प्राप्ति प्रबल साधनों द्वारा होती है। साधनो में जुटा रहे, समय को ओर न देखे समय तो निरवधि है। इसका आदि नहीं अन्त नहीं। साधक नित्य यही ध्यान रखे मैंने आज ही साधन आरंभ किया है। नित्य नया उत्साह, नित्य नयी, स्फूर्ति नित्य नया पुरुषार्थ, नित्य नयी उमंग नित्य नया मनोबल ये ही सब बातें साधक को सिद्धि की ओर ले जाती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने बार-बार पुरुषार्थ पर बल दिया और प्रयत्न करने वाले साधक द्वारा ही योग प्राप्ति को सहज बताया तब अर्जुन के मन में जो एक शंका हुई, उसे अर्जुन जैसे पूछेगा, उसका वर्णन में आगे करूँगा।

छप्पय

मन कूँ वश में किये बिना होवै साधन नहिँ।
मनमानी जो करै सिद्धि पावै साधक नहिँ॥
निश्चित मेरो यही एक है मत तुम मानो।
मन वश कूँ अभ्यास और वैराग्यहि जानो॥
जतनशील नर के नहीं, कठिन जोग को पावनो।
करत-करत अभ्यास के, सहजहि बनै सुहावनो॥

योगभ्रष्ट साधक के सम्बन्ध में अर्जुन का प्रश्न

[१६]

अर्जुनउवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य,योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ३७, ३८, ३९ श्लो०)

छप्पय

अरजुन बोले—प्रभो ! एक शंका मन माहीं ।
कृपा करें यदि आपु सकल शंका मिटि जाहीं ॥
साधक श्रद्धावान संयमी अधिक नहीं वो ।
अन्तकाल मन चलित भयो गति कौन लहै सो ॥
जोग सिद्धि पाई नहीं, अन्त देह को ह्वै गयो ।
साधन को का होयगो, श्रमता को निष्फल भयो ?

---

* इस पर अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! कोई यति तो है नहीं ।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ में कौन बड़ा है, यह प्रश्न सनातन है। प्रारब्ध को श्रेष्ठ मानने वाले कहते हैं—"तुम कितना भी पुरुषार्थ करो, होगा वही जो प्रारब्ध में लिखा होगा। सूर्य चन्द्र कितने तेजस्वी हैं। वे कितना भी पुरुषार्थ करें समय पर राहु उन्हें ग्रस ही लेगा। प्रबल पुरुषार्थ से भी वे उसके ग्रसने को नहीं मेंट सकते। हाथी और सर्प बलवान तथा विषधर हैं, फिर भी वे बन्धन में पड़ ही जाते हैं। बड़े-बड़े बुद्धिमान भूखों मरते हैं, मूर्ख लोग राजा बन जाते हैं। इन्द्र के यहाँ किस बात की कमी है। संसार में सबसे नीति निपुण बृहस्पति जी जिनके मन्त्री सबसे श्रेष्ठ वज्र जिनका आयुध, उनकी सेना में अग्नि, वायु, कुवेर ऐसे सैनिक, ऐरावत जैसी सवारी, स्वर्ग जैसा किला और साक्षात् श्री विष्णु जिसके सहायक वामन भगवान जैसे उनके अधीन छोटे इन्द्र इतना सब होने पर भी समय-समय पर असुर उन्हें हराकर स्वर्ग का राज्य छीन लेते हैं। यदि पुरुषार्थ से दुःखों का निवारण हो सकता होता तो रामचन्द्र जी वन-वन में क्यों भटकते रहते, नल जैसे धर्मात्मा राजा पर ऐसी विपत्तियाँ क्यों आतीं। पांडव जैसे देव पुत्र मारे-मारे क्यों फिरते रहते। भीम

योग से जिसका मन भी चलायमान हो गया है, उसे योग सिद्धि तो प्राप्त होगी नहीं, फिर वह किस गति को प्राप्त होगा? ॥३७॥

हे महाबाहो ! यह क्या भगवत् प्राप्ति के मार्ग में विमूढ़ बना अप्रतिष्ठित व्यक्ति उभय भ्रष्ट होकर छिन्न-भिन्न बादलों की भाँति नष्ट तो नहीं हो जाता है? ३८॥

हे कृष्ण ! आप ही मेरे इस संशय को जड़ मूल से नाश करने में समर्थ हैं; क्योंकि आप के अतिरिक्त इस संशय को जड़ मूल से नाश करने वाला और कोई मिलना सम्भव नहीं ॥३९॥

और अर्जुन जैसे बली भाई, गांडीव जैसा धनुष, श्री कृष्ण जैसे सुहृद फिर भी धर्मराज अनेक वर्षों तक दुखी बन कर वनों में कष्ट से निर्वाह करते रहे। इससे यही निष्कर्ष निकला कि पुरुषार्थ व्यर्थ है, सब कुछ प्रारब्ध ही है।

इसके विपरीत पुरुषार्थ वाले कहते हैं—"भाई यह बताओ प्रारब्ध आया कहाँ से ? हमने जो कर्म किये हैं—पुरुषार्थ किया है—उसी का प्रारब्ध बना है। उस प्रारब्ध को भी हम प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा नष्ट कर देंगे। समस्त कार्य उद्यम करने से—पुरुषार्थ करने से—ही सिद्ध होते हैं। बैठे बैठे मन के मोदक खाते रहो, तो इससे पेट नहीं भरेगा। सिंह भी यदि पुरुषार्थ न करे तो वह भूखा ही मर जायगा। हिरन आ आकर उसके मुख में नहीं घुस जायँगे कि लो मृगेन्द्र पशुओं के राजा हमें खाकर अपनी भूख बुझालो। जब तक वह हाथ पैर न पटकेगा, तब तक कार्य चलेगा नहीं। समस्त कार्य एक मात्र पुरुषार्थ द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। जो आलसी हैं, कार्य करना नहीं चाहते वे ही प्रारब्ध की दुहाई देते हैं। प्रारब्ध के भरोसे हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहना नपुंसकों का कार्य है।" इसप्रकार प्रारब्ध वादी और पुरुषार्थ वादी दोनों ही अपने अपने पक्ष को श्रेष्ठ बताने के तर्क उपस्थित करते हैं। इनमें किसका पक्ष श्रेष्ठ है?

हमारा कथन है, दोनों का ही कथन श्रेष्ठ है। अब आप पूछें कि वृक्ष बड़ा कि बीज बड़ा? हम कहें वृक्ष बड़ा जिससे बीज बनता है, तो आप कहेंगे कि वृक्ष बिना बीज के उत्पन्न ही कैसे होगा। अतः बीज बड़ा। तब हम कहेंगे, बीज बिना वृक्ष के आवेगा कहाँ से ? अतः वृक्ष बड़ा। यह विवाद की बात है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वृक्ष से बीज होता है, और बीज से वृक्ष बनता है। दोनों ही श्रेष्ठ हैं। ठीक यही बात

प्रारब्ध और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में है। पुरुषार्थ से ही प्रारब्ध बनता है और प्रारब्धानुसार ही पुरुषार्थ में प्रवृत्ति होती है। इसलिये जो सिद्ध हो गये हैं, त्रिकालदर्शी बन चुके हैं, उन्हें तो अपने शरीर का, शरीर सम्बन्धी समस्त कर्मों को प्रारब्ध के अधीन छोड़ देना चाहिये और जो त्रिकालज्ञ नहीं हुए हैं अभी साधक ही है, उन्हें पूरी शक्ति से निरालस्य होकर पुरुषार्थ में ही लगे रहना चाहिये। इस बात को नीचे के दृष्टान्त से समझना चाहिये।

एक महात्मा भिक्षा वृत्ति से निर्वाह करते हुए गंगा किनारे निवास करते थे। एक दूसरा महात्मा उनके समीप आया और बोला—महाराज कहाँ जा रहे हो ?

उन संन्यासी महात्मा ने कहा—"गाँव में भिक्षा माँगने जा रहा हूँ।"

आगन्तुक महात्मा ने कहा—मैं बताऊँ आपको आज भिक्षा में क्या मिलेगा ?"

संन्यासी महात्मा ने कहा—"अच्छा, बताओ।"

आगन्तुक महात्मा ने एक कागद पर इतनी रोटी, ऐसी दाल, कढ़ी, गुड़ ऐसी कई वस्तुएँ लिख दीं। महात्माजी भिक्षा लेकर लौटे कुटी में आकर उस सूची से मिलाया, तो सब वस्तुएँ ज्यों की त्यों ही मिल गयीं।"

महात्मा जी ने कहा—"भाई, तुम्हारी सूची तो यथार्थ मिल गयी। अच्छा, कल आना और बताना।" यह सुनकर वह आगन्तुक महात्मा अपने स्थान को चला गया।

वे संन्यासी महात्मा दूसरे दिन नित्यकर्मों से निवृत्त होकर अपनी कुटी में ध्यान करते रहे। अन्त में कई दिन के किसी विशाल में भुने चने रखे थे। उन्होंने उन चनों को चबाया, पानी

पीया और बाहर आकर चौकी पर बैठ गये। कुछ काल के अनन्तर वे महात्मा भी आये। इन संन्यासी महात्मा ने पूछा— बताओ, हमने क्या-क्या किया? क्या-क्या खाया?

तब उन्होंने कहा—"आप नित्य कर्म से निवृत्त होकर कुटी में आये। कुछ देर ध्यान किया, फिर थोड़े से चने चबाये। पानी पीकर यहाँ तख्त पर आ बैठे!"

इन स्वामी जी ने पूछा—"भाई, तुम्हारी बात तो सब सत्य है, अच्छा यह बताओ, तुम्हें यह सिद्धि कैसे मिली।"

उन महात्मा ने बताया—मेरा घर में मन नहीं लगता था, मैं घर से भागकर महात्माओं के पास घूमता रहा, किन्तु किसी भी महात्मा में मेरी श्रद्धा नहीं हुई। किसी न किसी में कुछ न कुछ दोष दीखता ही रहा। जब किसी में मेरी श्रद्धा नहीं हुई, तब एक दिन मैंने स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का चित्र देखा। उस पर मेरी श्रद्धा हुई। उसी चित्र को आगे रखकर मैं त्राटक करने लगा। ध्यान करने लगा। ध्यान करते-करते मुझे भूत भविष्य वर्तमान का सब ज्ञान हो गया। अब मैं सबके मन की बात जान लेता हूँ, कहीं भी घटना हो उसे ध्यान से देखने पर प्रत्यक्ष देख लेता हूँ। आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा, मैं पहिले ही लिखकर रख लेता हूँ। मुझे आगे क्या करना पड़ेगा इसका ज्ञान मुझे पहिले ही हो जाता है, इसी से मैं निर्भय होकर विचरता हूँ।

योग दर्शनकार ने भी समाधि सिद्धि के लिये लिखा है "यथाभिमत ध्यानाद्वा।" जो तुम्हें अभिमत हो—अच्छा लगे— उसके ध्यान से भी समाधि की सिद्धि हो जाती है। ऐसे लोगों के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे तो पुरुषार्थ के हुए होने वाले और हो रहे फल को प्रत्यक्ष देख ही लेते

हैं, किन्तु जिनमें इतनी सामर्थ्य नहीं है, उन्हें प्रारब्ध के भरोसे न बैठकर पूरी शक्ति से पुरुषार्थ करना चाहिये। आप पुरुषार्थ भी तो प्रारब्धानुसार ही करोगे। खोटी स्त्रियों के चरित्र को तथा पुरुष के प्रारब्ध को ब्रह्मा जी भी नहीं जानते, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या? अतः सिद्धों के लिये प्रारब्ध श्रेष्ठ है, और साधकों के लिये पुरुषार्थ श्रेष्ठ है. यह निर्णय हुआ आप दोनों में से जो हों उसे अपने लिये चुनलें।

अब रही पूर्व जन्म की बात। बिना पूर्व जन्म माने इस संसार की विषमता का कोई समाधान हो नहीं। उसी कक्षा को एक छात्र चार वर्ष में उत्तीर्ण नहीं करता, दूसरा उसी अध्यापक का उसी अवस्था का वैसा ही छात्र एक वर्ष में दो तीन-तीन कक्षाओं को उत्तीर्ण कर जाता है। इन सब कारणों से पूर्व जन्म कृत प्रयत्न के माने बिना काम चलेगा नहीं। अतः साधक को यह न समझना चाहिये कि साधन करते-करते हम बीच में ही मर गये, तो हमारा किया कराया साधन व्यर्थ ही जायगा। इसी शंका को अर्जुन भगवान् से पूछते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन ने भगवान् से शंका की—"प्रभो! एक साधक है, वह योग साधन के लिये श्रद्धा पूर्वक प्रयत्न कर रहा है। उसकी श्रद्धा में तो कोई कमी नहीं, किन्तु उसने कुछ काल ही साधन में पुरुषार्थ किया। अल्प प्रयत्न करने के अनन्तर प्रारब्ध वश संयम न होने के कारण वह योग से विचलित हो गया। योग भ्रष्ट बन गया, अथवा बीच में ही उसकी मृत्यु हो गयी तो उसको कौन-सी गति प्राप्त होगी? योग तो उसका सिद्ध हुआ नहीं। किसी अन्य कामना से उसने कर्म किया नहीं तो क्या उसका प्रयत्न नष्ट हो जायगा?"

भगवान् ने कहा—नष्ट होने की क्या बात है ? किया हुआ प्रयत्न तो कभी व्यर्थ जाता नहीं।

अर्जुन ने कहा—"बात यह है, कि प्रयत्न तो वह समाधि के लिये-भगवत् प्राप्ति के लिये कर रहा था, किन्तु बीच में ही ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में विमूढ़ बन गया, मोहग्रस्त हो गया अथवा दूसरे विघ्न आ गये। इससे वह अपने मार्ग में स्थिर नहीं रह सका, तो उसकी फिर कौन गति होगी। यदि उसने किसी कामना के संकल्प से वह कार्य किया होता, तो उसे उस कर्मानुसार स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती। यदि विघ्न न पड़ते-विमूढ़ न बन जाता तो उसे समाधि की प्राप्ति हो जाती। या भगवत् साक्षात्कार हो जाता। मुक्ति मिल जाती। किन्तु सो तो हुआ नहीं। तो क्या वह उभय भ्रष्ट तो नहीं हो जायगा ? न स्वर्ग हो मिला, न मोक्ष ही मिली। वह तो दोनों ओर से ही गया।"

भगवान् ने कहा—"इस बात को तुम किसी दूसरे ज्ञानी से पूछ लेना। अब तुम आगे का प्रसंग सुनो।"

अर्जुन ने कहा—"नहीं भगवन् आपको ही मेरे इस संदेह को दूर करना पड़ेगा। पहिले मेरी शंका को निःशेष हटाकर तभी आगे का प्रसंग चलाइये। आपके अतिरिक्त मुझे इस शंका का समाधान करने वाला, इसे जड़मूल से मेटने वाला कोई अन्य नहीं मिलेगा। अतः आपको ही मेरी इस शंका का समाधान करना पड़ेगा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् ने जिस प्रकार युक्तियों से अर्जुन की इस शंका का जो समाधान किया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

आप लोग इस परम पावन प्रसंग को प्रेम पूर्वक श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

नहीं कामना सहित स्वरग हित करम करे हैं।
करम करे निष्काम सिद्धि नहिँ मिली मरे हैं॥
ताकी का गति होहि स्वरग तो मिलिनों नाहीं।
करम कामना हीन जोग बिचलित है जाहीं॥
उभय भ्रष्ट तो होहि नहिँ, जो साधक निष्काम हैं।
होहि नष्ट घन धनहिँ तजि, माया मिली न राम है॥

कृष्णचन्द्र ! मन माहिँ उठी शंका यह भारी।
संशय होवै नष्ट कृपा यदि होहि तिहारी।
या संशय के नाश हेतु समरथ तुम स्वामी।
घट घट में नित रहो सर्वगत अन्तरजामी॥
शरन लई तुमरी प्रभो ! सब तैं नातो तोरिकें॥
संशय छेदन करै को, स्वामी ! तुमकूँ छोरिकें॥

योगभ्रष्ट साधक पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म लेते हैं

[२०]

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ०, ४०, ४१ श्लोक)

छप्पय

कहन लगे भगवान - तात ! तव शंका सुन्दर ।
उभय लोक बनि जायँ करैं जो साधन सुखकर ॥
करैं करम निष्काम लोक परलोक बनावैं ।
भले चाहिँ मरि जायँ नहीं वे दुरगति पावैं ॥
पारथ सोचो तो सही, करैं काज कल्यान हित ।
दुरगति तिनिकी होहि कस, मोमें जिनि को लग्यो चित ॥

---

* इस पर श्री भगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुष का तो न इस लोक मे और न परलोक मे ही विनाश होता है । भैया ! तुम निश्चय जानो कल्याण के लिये कार्य करने वाला कोई भी दुर्गति को प्राप्त नही होता ॥४०॥

ऐसा योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यलोकों को प्राप्त होकर वहाँ बहुत वर्षों तक वास करता है । फिर वह पवित्र श्रीमानों के घरों में उत्पन्न होता है ॥४१॥

पूर्व जन्म के जैसे संस्कार होते हैं, वैसा ही प्राणी अपने आप कार्य करने लगता है। पूर्वजन्मों में जीव जो-जो कर्म कर आया है, उन्हीं के संस्कार शेष रह जाने से वह बिना सिखाये ही उन कार्यों को करने लगता है। गौ का बच्चा पैदा होते ही माता के स्तनों को ढूँढ़ने लगता है, उसको यह बात किसने सिखा दी कि माता के स्तनों में कोई ऐसी वस्तु है, जिससे भूख की निवृत्ति हो सकती है। जब उसे स्तन मिल जाते है, तो वह माता के स्तनों में हूडु मारने लगता है, उसे यह बात किसने बतायी कि हूडु मारने से माता के स्तन में दुग्ध आ जाता है। जब स्तन दुग्ध से भर जाते हैं, तो वह दोनों जबड़ों से उन्हें चुसुर-चुसुर करके दबा कर दूध को मुख में लेता है, फिर मुख में ले जाकर निगलने लगता है। दबाने से दूध का निकलना और उसे गले से नीचे निगलना बछड़े को किसी ने सिखाया नहीं, अपने आप वह पूर्व जन्म के संस्कारों के वशीभूत होकर करता है।

बंदर का बच्चा पैदा होते ही अपनी माता के गले में चिपक जाता है, उसे चिपकना किसने सिखाया ? यही मेरी माँ है, इसके गले में चिपक कर मैं निरापद रहूँगा, ये संस्कार उसके पूर्व जन्म के हैं।

मछली के कछुओं को जल में ही रहना वहीं सोना कोई सिखाता नहीं। कछुआ की माता अपने अंडों को नदी के तट पर बालू में देती है, और मन से ही उन अंडों को सेती रहती है। उसके मानसिक ध्यान से ही वे अंडे पक जाते हैं, उनमें से अपने आप बच्चे निकल कर अपनी माता से आकर मिल जाते हैं। हमने तो यहाँ तक सुना है, कि कछुआ की माता ने अपने अंडे प्रयाग में दिये। उन्हें बालू में दबाकर वह हरिद्वार चली गयी। वहीं से

मन से उन्हें सेतो रहती है। वे-अंडे-पककर फूट जाते हैं। उनमें से बच्चे निकल कर अपनी माँ को खोजते-खोजते हरिद्वार या जहाँ भी मां होगी वहीं पहुँच जायंगे और अपनी माता से जाकर मिल जायंगे उन बच्चों को यह ज्ञान कहाँ से हुआ कि हमारी माता अमुक स्थान पर है और यही हमारी माता है। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है। जीव नाना योनियों में घूमता रहता है, उनके संस्कार शेष रह जाते है। कुत्ते के बच्चे जल मे घुसते ही तैरने लगते हैं। इसी प्रकार जिन्होने पहिले जन्मों में योग साधना की है और किसी कारण वश उसमें विघ्न आगया है, अथवा बीच में ही शरीरान्त हो गया है, तो उनकी दशा क्या होगी ? क्योंकि यदि सकाम भाव से उन्होंने साधन किया होता तो उनकी वह कामना पूरी हो जाती। साधन उसने निष्काम भाव से किया है, किन्तु वह पूरा हुआ नहीं, अधूरा ही रह गया है, तो वह कर्म न तो संसारी कामना को ही देने वाला होगा, न परलोक में ही उसका कुछ उपयोग होगा।" भगवान् कहते हैं—ऐसी बात नहीं। कैसा भी कर्म हो वह कभी विफल नहीं होता। योगभ्रष्ट होने के दो ही कारण हैं, पहिला तो यह कि साधन करते-करते किसी प्रारब्ध कर्मानुसार भोग वासना उत्पन्न हो जाय, जसे सौभरि ऋषि को गृहस्थ बनने की वासना हो गयी थी। ध्रुवजी जो पूर्व जन्म में महान् तपस्वी थे, राजपुत्र को देख कर राजपुत्र बनने को वासना हो गयी थी। पहिला विघ्न तो यह हुआ। दूसरा विघ्न यह है कि योग साधन कर रहे हैं, साधना पूरी नहीं बीच में ही मृत्यु हो गयी। तो दोनों की दो गतियाँ होती हैं। जिन्हें बीच में भोगवासना उत्पन्न हो जाती है, वे पहिले तो शुभ कर्मों के फलस्वरूप दिव्य लोकों में जाकर दिव्य भोगों को भोगते है। कुछ पुण्य शेष रह जाने पर पवित्र श्रीमानों

के घर में उत्पन्न होते हैं। दूसरे जो साधन को अधूरा छोड़कर मर जाते हैं, वे योगियों के कुल में उत्पन्न होकर अपने शेष साधन को पूरा करते हैं। भोगवासना न होने से वे पुण्यलोकों में नहीं जाते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने योगभ्रष्ट साधक की क्या गति होती है वह उभयभ्रष्ट तो नहीं हो जाता, यह प्रश्न भगवान् से किया, तो भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"हे पार्थ! जो शुभ साधन करते-करते बीच में किसी कारण से योग से भ्रष्ट हो जाते हैं, उनके कर्म का नाश न तो इसी लोक में होता है और न परलोक में ही।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसा क्यों होता है भगवन्।

भगवान् ने कहा—"भाई! वे कोई निषिद्ध कर्म तो कर ही नहीं रहे थे, वे तो शास्त्रानुमोदित शास्त्र के ही अनुसार शुभ कार्य में लगे हुए थे, उत्तम साधन में संलग्न थे। बीच में जीव के स्वभावानुसार प्रारब्धवश भोगेच्छा उत्पन्न हो गयी, तो साधारण आदमी को साधारण भोग मिलते है उत्तम अधिकारी को उत्तम भोग मिलते हैं। जो उत्तम कार्य करने वाला है ऐसे पुरुष की कभी दुर्गति नहीं होती।

अर्जुन ने पूछा—ऐसे लोगों की क्या गति होती है?

भगवान् ने कहा—जिनके मन में भोग वासना का प्रादुर्भाव हो जाता है, ऐसे लोग मरकर पहिले तो पुण्य लोकों में जाकर मन-माने दिव्य भोगों का भोग करते हैं, फिर कुछ पुण्य शेष रह जाने पर भोग वासना होने पर पवित्र श्रीमानों चक्रवर्ती राजाओं जैसे जनक अजात शत्रु आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ वे राजसी भोगों को भी भोगते हैं और योग साधन में भी लगे रहते हैं। इस प्रकार न उनका यह लोक ही बिगड़ता है न पर-

लोक ही। हाँ कुछ समय का अन्तराय अवश्य हो जाता है, सो कोई बात नहीं, काल तो निरवधि है, फिर प्रारब्ध कर्मों का तो बिना भोग के क्षय होता ही नहीं। ध्रुव को ६ महीने की तपस्या से ही भगवान् के दर्शन हो गये। भगवत् साक्षात्कार होने अनन्तर भी प्रारब्ध कर्मानुसार उन्हें ३६ हजार वर्षों तक पृथ्वी पर राज्य करना पड़ा और अब तक भी वे सप्तर्षियों के लोकों से भी ऊपर अपने ध्रुव लोक में पुण्यों का उपभोग कर रहे हैं।

अर्जुन ने पूछा—जिनकी भोग वासनायें प्रादुर्भूत नहीं हुई हैं, किन्तु साधन अधूरा रह गया है, और बीच में ही मृत्यु हो गयी है, उनकी क्या दशा होगी?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् ने उत्तर दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

योग-भ्रष्ट ह्वै जायँ नसै नहिँ इस्मृति तिनकी।
सद्गति होवै अवसि नहीं दुरगति है उनकी॥
तनतैं शुभ अरु अशुभ करम बिनु जानें होवैं।
भोगें सुख तैं स्वरग नहीं साधन सब खोवैं॥
जनम लेहिँ शुचि वंश में, श्री माननि के घरनि में।
योग भ्रष्ट उत्तम पुरुष, लगि जावैं शुभ करम में॥

पवित्र कुल में जन्म परम पुण्यात्मा पुरुषों का ही होता है

[२१]

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥*
(श्री० भग० गी० ६ अ० ४२, ४३ श्लो०)

छप्पय

अथवा जोगिनि वंश माहिँ पुनि जनमें साधक ।
जोगभ्रष्ट बनि जायँ जनम नहिँ होवै बाधक ॥
ज्ञानवान विद्वान सदा साधन महँ तत्पर ।
ऐसे कुल में जनमि जोग नित करैं निरन्तर ॥
शुचि श्रीमाननि गेह में, जोगिनि के शुभ वंश में ।
दुरलभ लेनों जनम अति, मेरे ही तिनि अंश में ॥

---

* अथवा ज्ञानियों के कुल में उत्पन्न होता है । इस संसार में ऐसे कुलों में जन्म लेना ही बहुत दुर्लभ है ॥४२॥

हे कुरुनन्दन ! वहाँ जन्म लेकर वह पूर्व जन्म में किये हुए साधन के द्वारा सयोगवश पूर्व बुद्धि को प्राप्त करता है । उसी के प्रभाव से वह फिर सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है ॥४३॥

परमार्थ साधन में धैर्य की प्रधानता है। परमार्थ पथ के पथिक को कभी धैर्य को न खोना चाहिये। उसे इस बात का दृढ़ विश्वास रखना चाहिये, कि निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर मैं एक न एक दिन अवश्य ही अपनी साध्य वस्तु को प्राप्त कर लूंगा। साधनों में विघ्नों का ग्राना स्वाभाविक है। जो निम्न-स्तर के लोग होते हैं, वे विघ्नों के भय से साधन को ग्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम पुरुष आरम्भ तो कर देते हैं, किन्तु विघ्न ग्राने पर साधन को छोड़ देते हैं, किन्तु उत्तम पुरुष वे हैं, कि चाहे जितने भी विघ्न क्यों न ग्रावें, जिस साधन को ग्रारम्भ कर दिया है, उसे कभी छोड़ते नहीं। जन्म-जन्मान्तरों तक उसी साधनमें धैर्य के साथ लगे ही रहते हैं।

साधन में विघ्न प्रायः काम, क्रोध तथा लोभ मोह के ही कारण हुग्रा करते हैं। राजर्षि भरत उग्र साधन कर रहे थे। अदृष्ट के कारण उनका हिरन के बच्चे में मोह हो गया। दो जन्म और लेने पड़े। हिरन का ध्यान करते-करते शरीर त्यागा इससे हिरन हुए ग्रौर अन्त में विशुद्ध ब्राह्मण वश में पैदा हुए। इनके कुल का वर्णन करते हुए बताया गया है, कि ये आङ्गिरस गोत्र में उत्पन्न हुए थे, इनके पिता शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग, सन्तोष तितिक्षा, विनय, विद्या, ग्रनसूया तथा ग्रानन्दादि सभी सद्गुणों से सम्पन्न थे। ऐसे कुल में जन्म बड़े भाग्य से मिलता है।

इन्हें मरकर पुण्यलोकों में भोग भोगने के लिये नहीं जाना पड़ा, और न चक्रवर्ती राजा ग्रादि पवित्र श्रीमानों के ही यहाँ जन्म लेना पड़ा। क्योंकि ये तो पहिले स्वयं ही सम्राट् रह चुके थे। सम्राट् के सुखों को ही तो छोड़ वन में ग्राकर तपस्या करने लगे थे। मृग के शावक का अन्तराय न होता, तो ये निष्काम

कर्मयोग भगवद् आराधना के प्रभाव से–प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म करने से–उसी जन्म में मुक्त हो सकते थे। क्योंकि विवेक वैराग्य त्याग तो इनमें था ही भगवान् के चरणों में श्रद्धाभक्ति भी थी और भोगवासनायें भी निवृत्त हो चुकी थीं। केवल कोई प्रारब्ध कर्म शेष रह गया था, वह हिरन बनकर आ गया, इसलिये उस प्रारब्ध भोग की समाप्ति के लिये इन्हें हिरन बनना पड़ा। फिर भी जातिस्मरण हुए पुरानी सब बातें हिरन शरीर में भी स्मरण रहीं। इन्होंने उस पशु शरीर में भी घोर पश्चात्ताप करके उस प्रारब्ध कर्म का भी नाश कर दिया। तपस्या इस शरीर में भी करते रहे। किसी जीव को हिंसा न हो, इसलिये हरी पत्ती भी न खाकर पेड से अपने आप गिरे सूखे पत्ते खाकर निर्वाह करने लगे। पैदा हुए कालिंजर में (चित्रकूट के समीप) और तपस्या करने भागकर अपनी पुरानी तपस्थली गंडकी के किनारे पुलहाश्रम में पहुँच गये। वहाँ गंडकी में भगवन्नामों का उच्चारण करते हुए शरीर त्याग दिया। बुद्धिमान् योगियों के कुल में जन्म लेकर विमुक्त बन गये।

इसके विपरीत एक बड़े भारी ब्राह्मण तपस्वी वन में तपस्या कर रहे थे, वे महान् तपस्वी थे, दरिद्र ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे, कभी संसारी भोगों को भोगा नहीं। मनोज्ञ सुंदर स्वरूपवान स्त्री पुरुषों से संसर्ग रखा नहीं। निरन्तर तपस्या करते-करते कड़वे कसैले वन के फलों को खाते-खाते समय बिताया। प्रारब्धवश एक समय कोई अत्यंत ही स्वरूपवान, परम कोमल सुशील राजकुमार, बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत हुआ। उस वन में मृगया के निमित्त आ गया। तपस्वी को देखकर उसकी बड़ी श्रद्धा हुई। उसने तपस्वी को साष्टांग प्रणाम किया—और अत्यन्त ही नम्रता से हाथ जोड़े खड़ा हो गया। एक तो राजपुत्र और फिर अत्यन्त

ही स्वरूपवान, समस्त सद्गुणों से युक्त वस्त्राभूषणों से अलंकृत ऐसे राजकुमार को देखकर तपस्वी मुग्ध हो गया। सोचने लगा—"हाय ! मैंने अपनी सम्पूर्ण आयु तपस्या में ही विता दी, मैंने कभी संसारी भोग नहीं भोगे।"

राजकुमार के प्रति उनका चित्त अत्यन्त ही आकर्षित हो गया, उसके संग से वे ही तपस्या के फलस्वरूप दिव्यलोकों के सुख भोगकर अन्त में परम पवित्र महान् श्रीमान सम्राट् उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव बनकर उत्पन्न हुए। पूर्वजन्म की तपस्या के प्रभाव से, जिन भगवान् के दर्शन अनन्त जन्मों में नहीं होते, उनके दर्शन इन्हें केवल ६ महीने में ही हो गये। भगवान् के दर्शन हो जाने पर भी इन्होंने प्रारब्ध कर्मानुसार मुक्तिदाता विष्णु से मुक्ति न माँगकर भोग ही माँगे। अतः ३६ सहस्र वर्ष तक तो उन्होंने पृथ्वी पर राज्य करके यहाँ के सुखों का उपभोग किया और अब सप्तर्षियों से भी ऊपर दिव्य ध्रुवधाम में स्वर्गीय सुखों का उपभोग कर रहे हैं, अन्त में मुक्त हो ही जायँगे।

महाराज बलि स्वर्ग में सर्वस्व दान करने के प्रभाव से महान् दानी तथा सैकड़ों यज्ञ करने वाले सम्राट हुए। पिछले कर्मों के कारण असुर वंश में हुए। असुर होते हुए भी दान, यज्ञ आदि सत्कर्मों के प्रभाव से भगवान् के चरणारविन्दों में इनकी भक्ति हुई, इन्होंने अपना सर्वस्व श्री भगवान् को अर्पण कर दिया, इनकी इन्द्र बनने की वासना थी, अतः आजकल सुतललोक में स्वर्ग से भी अधिक भोगों को वहाँ रहकर भोग रहे हैं। अगले मन्वन्तर में इस इन्द्र के पश्चात् वे ही इन्द्र बनेंगे। इन्द्र बनने की वासना की पूर्ति होने पर ये मुक्त हो जायँगे। सभी इन्द्र मुक्त हो जाते हों, सो बात नहीं। बहुत से इन्द्र तो इन्द्र पद से हटकर चींटा आदि कीट हो जाते हैं।

तपस्या सद्गुण सत्कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाते भगवत्‌भक्त के मन में पहिले तो संसारी वासना उठती नहीं। प्रारब्ध कर्मानुसार कभी कोई वासना उठ ही आई, तो भगवान् भोग द्वारा उस वासना को निवृत्त करा देते हैं। महर्षि सौभरि को मीन के संग को देखकर विवाह करने की वासना हो आई। भगवान् ने ५० विवाह कराके इस वासना को समाप्त कर दिया और अन्त में उन पचास पत्नियों सहित मुक्त हो गये।

अजामिल भी पूर्वजन्म में महान् तपस्वी थे, इतनी उग्र तपस्या करते थे, कि हिमवत जल में खड़े-खड़े जप करने से मूर्छित हो गये। किसी ऋषि कन्या ने अपने अंगों में लिपटा कर अग की उष्णता से उन्हें चैतन्य किया किन्तु प्रारब्धवश उन्होंने तपस्या के अभिमान के कारण क्रोध आ गया। उसे शाप दे दिया—"तू वेश्या हो जा।" वह भी तपस्विनी थी हवन करते हाथ जलता देखकर उसने भी शाप दिया—"तू सदाचारी ब्राह्मण होने पर भी मुझ वेश्या के पीछे अपना सर्वस्व त्याग कर मेरे पीछे पीछे फिरेगा।" अजामिल जन्म से ही वेश्यागामी नहीं था। उसके सद्गुणों को बताते हुए यमदूतों ने वर्णन किया है—"यह अजामिल शील, सदाचार सद्गुणों की खान था, ब्रह्मचारी, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, मन्त्रवेत्ता तथा पवित्र था। नित्य गुरु, अग्नि, अतिथि तथा वृद्ध पुरुषों की सेवा किया करता था। अहंकार तो इसे छू भी नहीं गया था। यह सब प्राणियों पर दया करने वाला, उपकारी, विनम्र, वाणी का संयम करने वाला, तथा किसी की असूया करने वाला नहीं था।"

ये सद्गुण उसकी पूर्वजन्मों की तपस्या के फलस्वरूप थे। अभिमानवश जो क्रोध आ गया, वही तपस्या में विघ्न पड़ गया।

पुत्र के मिस भगवान् नारायण के निरन्तर नाम लेने से प्रायश्चित्त हो गया और वह संसार सागर से विमुक्त हो गया।

अतः साधक को बड़ी सावधानी से काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर इन दुर्गुणों से बचकर साधन में लगे ही रहना चाहिये। बहुत सावधानी रखने पर भी प्रारब्धवश ये विघ्न आ ही जायँ तो साधन से विचलित नहीं होना चाहिये। ये साधन कुछ समय का अन्तराय भले ही उपस्थित करदें। साधक का कुछ अनिष्ट नहीं कर सकते।

कुछ साधक तो भोगवासना शेष रहने के कारण योगभ्रष्ट होने पर पुण्यलोकों के भोगों को बहुत दिनों तक भोगने के अनन्तर पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म लेकर फिर जहाँ से साधन छूटा था, वहीं से पुनः आरम्भ कर देते हैं।

दूसरे ऐसे होते हैं, जिन्हें भोगवासना तो हैं नहीं, किसी कारण वश विघ्न हो गया है. तो वे पुण्यलोकों में नहीं जाते, तत्काल बुद्धिमान साधन सम्पन्न योगियों के कुल में उत्पन्न हो जाते हैं, वहाँ जाकर ध्यान, धारणा समाधि में जहाँ से छूटे होंगे, वहाँ से साधन आरम्भ करके मुक्त हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने भोगवासना शेष योग भ्रष्टों की गति का वर्णन पीछे किया, अब अर्जुन को यह बता रहे हैं कि जिनके अन्तःकरण में भोगवासनायें तो हैं नहीं, किसी कारण विशेष से उनके साधन में विघ्न पड़ गया। उनका शरीर छूट गया तो उनकी क्या गति होती है।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन! उन योगभ्रष्टों का जन्म परम पवित्र परम बुद्धिमान योगियों के कुल में होगा।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! परम पवित्र योगी तो निर्धन

होते हैं, इन धनहीनों के यहाँ इतने भारी साधक को क्या सुख मिलता होगा ?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—अर्जुन ! सुख धन में ही है क्या ? धन से संसारी भोग भले ही मिल जायँ वैसे धन से दुःख ही दुःख है। धन में १५ दोष हैं। संसार में धन से कोई सुखी नहीं हुआ है, फिर चाहे वह सप्तद्वीपा वसुमती का सम्राट् अथवा तीनों लोकों का स्वामी इन्द्र ही क्यों न हो। जिनके मन में छिपी हुई भोग वासना हैं, वे तो धनिकों के यहाँ जन्म लेना चाहते हैं, किन्तु जिनकी भोगवासना क्षीण हो गयी है और किसी कारण वश मुक्त नहीं हो सके है, साधन करते-करते बीच में विघ्न आ गये हैं, तो वे तो परम पवित्र महान् बुद्धिमान योगियों के ही कुल में जन्म लेने में अपना अहोभाग्य समझेंगे, क्योंकि ऐसे कुल में जन्म लेना अत्यन्त ही दुर्लभ है। बड़े भाग्य से पूर्व जन्म के महान् सुकृतों से ऐसे कुलों में जन्म मिलता है।"

अर्जुन ने पूछा—,,ऐसे कुलों में जन्म लेने का इतना भारी महत्त्व क्यों है ? वहाँ जन्म लेकर वे क्या करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे कोई मनुष्य किसी ग्रन्थ को पढ़ रहा है। आधा पढ़ते-पढ़ते उसे निद्रा आ गयी, तो दूसरे दिन जाग कर वह ग्रन्थ को फिर से आरम्भ से नहीं पढ़ता। पहिली रात्रि में जहाँ तक पढ़ गया हो, दूसरे दिन उससे आगे ही पढ़ने लगेगा। मृत्यु भी एक प्रकार की निद्रा ही है। इसलिये मृत्यु के पश्चात् दूसरा जन्म लेने पर जहाँ से साधन छोड़ा है, वहाँ से आगे का साधन सम्पादन करने में जुट जायगा।

अर्जुन ने पूछा—ऐसा किस कारण से होता है ?

भगवान् ने कहा—हे कुरुनन्दन ! पूर्व जन्मोपार्जित बुद्धि का

उसे सहारा मिल जाता है। इसीलिये जहाँ तक का मार्ग पूर्व जन्म में तै कर आया है, वहाँ से पुनः यात्रा आरम्भ करके वह सिद्धि को चरम सीमा तक पहुँच जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये वह पुनः नये जन्म में नये उत्साह और नयी उमंग के सहित पुनः मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न शील बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने कहा—वह दूसरे जन्म में पुनः अभ्यास ही करने लगता है, तब अर्जुन ने पूछा—दूसरे जन्म में वह सब संसारी लोगों की भाँति संसारी भोगों में ही प्रवृत्त क्यों नहीं होता, वह आरम्भ से ही योग साधन में क्यों प्रवृत्त हो जाता है।" इसका उत्तर जो भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जितनो पढ़ि कें ग्रन्थ राति में ज्यों सो जावें।
उठे प्रात पुनि आगे के में ध्यान लगावें॥
त्यों वे साधक पूर्व जन्मकृत साधन सुमिरन।
करें बुद्धि तें यादि योग पुनि करें आचरन॥
करें जतन फिरि सिद्धि हित, पहिले तें बढ़िकें अधिक।
साधन में नित ही निरत, ढील करें नहि वे तनिक॥

साधक को सिद्धि अनेक जन्मों में होती है

[२२]

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥*

(श्रीम० गी० ६ अ० ४४, ४५ श्लो०)

छप्पय

जैसे बालक स्वतः दूध माता को निगले ।
जैसी खावै वस्तु स्वाँस वैसी ही उगले ॥
पूर्वदेह संस्कार धनी होवै वा जोगी ।
परवश साधन करै भूलि नहिँ होवै भोगी ॥
जोगी की तो बात का, साधक होवै जोग को ।
शब्द ब्रह्म हू तेँ बढ़ै, जतन ब्रह्म-संयोग को ॥

---

* वह अवश होने पर भी पूर्वाभ्यास के द्वारा परमार्थ साधन की ओर से आकर्षित होता है, क्योंकि योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म को उल्लंघन कर जाता है ॥४४॥

प्रयत्न से अभ्यास करने वाला योगी जो अनेक जन्मों के प्रयत्न से सिद्धि प्राप्त कर चुका है और जो निष्पाप बन गया है। उस साधन के प्रभाव से परम गति को प्राप्त होता है ॥४५॥

यह शरीर क्षेत्र के सदृश है, जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है। इस क्षेत्र को पहिले परमार्थ साधन के योग्य बनाया जाता है। जैसे जिस क्षेत्र में किसान परिश्रम नहीं करता हल नहीं चलाता, उसके कंकण पत्थर, खपड़ा निकाल कर नहीं फेंकता, तब तक उसमें बीज नहीं जमता। जब एक बार अत्यत परिश्रम से खेत को शुद्ध बना लिया जाता है, उसकी सभी अलाइ-बलाइ-सलाइ निकाल कर बारम्बार उसमें हल चलाकर उसे इतना पोला बना लिया जाता है, कि ऊपर से कच्चे घड़े को छोड़ दो, तो कच्चा घड़ा फूटे नहीं। तब समझना चाहिये यह खेत बीज बोने योग्य हो गया। ऐसे बने हुए खेत में अगले वर्ष अधिक श्रम नहीं करना पड़ता। अगले वर्ष उसमें और भी अधिक अच्छी खेती उपजती है। उसकी पैदावार बढ़ती ही जाती है।

यही दशा इस शरीर की है। एक कम चौरासी लाख योनियों में यह जीव भोगों को ही भोगता आ रहा है। परमार्थ के लिये इसने प्रबल प्रयत्न नहीं किये हैं। उन कर्मों के स्वरूप मनुष्य देह में आने पर भी इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, दर्प, अभिमान, दुर्वचन तथा अज्ञान आदि झाड़ झंकार, कटीले वृक्ष पैदा होकर शरीर रूपी क्षेत्र को बीज के अयोग्य बना देते हैं। जब संयम सदाचार द्वारा अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दया, अलोलुपता, कोमलता, लज्जा, ह्री, श्री आदि सद्गुणों से इस क्षेत्र को परिष्कृत करके योग रूपी बीज बोया जाता है, तब मोक्ष रूपी उत्तम फल लग जाता है। जब तक यह शरीर निष्पाप, निर्मल क्षीण कल्मष न बन जायगा, तब तक परमार्थ साधन होना कठिन है। परमार्थ साधन भी संसार में लोग तीन प्रकार से करते हुए देखे जाते हैं। एक तो वे सच्चे सेवक हैं, जो बिना किसी दिखावट के अपनी इन्द्रियों को

वश में करके संयम सदाचार द्वारा परमार्थ पथ की ओर अग्रसर होते हैं, वे इन्द्रियों और मनको वश में करके कठोर साधना द्वारा परम पद के अधिकारी होते हैं।

दूसरे अजितेन्द्रिय पुरुष भी साधन करते हैं। इन्द्रियाँ वश में न होने के कारण वे साधन तो सब वैसे ही करते हैं, किन्तु उनका साधन खाने-कमाने का एक व्यापार सा बन जाता है, वे भोगेच्छा के कारण इन्हीं लोकों में अटके रह जाते हैं।

तीसरे दम्भी भी साधन करते देखे गये हैं। दम्भ से यज्ञ, दान, जप, तप, पूजा-पाठ आदि सब करते हैं। उनको इन साधनों में श्रद्धा नहीं। किन्तु लोग साधकों का सम्मान करते है उनको द्रव्य देते हैं। बस, वे लोग धन मान सम्मान के निमित्त साधनों की ऊपर से दम्भपूर्वक नकल करके लोगों को रिझाते हैं। जब उनका दम्भ खुल गया, तो उन्हें कुछ भी नहीं प्राप्ति होती। यदि दम्भ न खुला कोई आँख का अंधा, गाँठ का पूरा फँस गया तो उनको धन मानादि की आय हो जाती है। अजितेन्द्रिय पुरुष तो प्रयत्न करने पर सुधर भी सकता है, किन्तु दम्भी का सुधार कठिन है, असम्भव है। उनके ये दम्भ साधन परमार्थ में किसी काम नहीं आते।

जिनका शरीर क्षीण कल्मष-निष्पाप बन गया है, उनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति परमार्थ पथ में हो जाती है, क्योंकि जीव शाश्वती शान्ति के ही लिये इधर-उधर भटकता फिरता है। संसारी विषयों का सेवन भी जीव सुख के निमित्त-शान्ति के ही लिये-करते हैं, किन्तु विषय भोगों में शान्ति कहाँ? वहाँ तो अधिकाधिक अशान्ति ही अशान्ति है। जिसके पाप कट गये हैं, जिसे संसार की निस्सारता का ज्ञान हो चुका है, विवेक वैराग्य द्वारा विषयों से जो उदासीन हो चुका है, ऐसा साधक परमार्थ

के लिये प्रयत्नशील होता है। बीच में प्रारब्ध कर्मानुसार बहुत से विघ्न आते हैं, किन्तु वे विघ्न उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते–उसे परमार्थ पथ से विचलित नहीं कर सकते।

साधन करते-करते यदि भोगवासना उत्पन्न हो गयी, तो कुछ काल वह भले ही साधन से च्युत हो जाय, किन्तु वह तो साधन का सुख अनुभव कर चुका है। परमार्थ फल का रसास्वादन कर चुका है, अतः योगभ्रष्ट होने पर भी उसके अन्तःकरण की स्वाभाविकी प्रवृत्ति परमार्थ की ही ओर होगी। दूसरे जन्मों में वह पश्चाताप द्वारा अपने विघ्नों का प्रायश्चित्त करके पुनः जहाँ से छोड़ा है वहीं से साधन आरम्भ कर देगा और देर-सबेर अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच ही जायगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से यह पूछा कि योगभ्रष्ट पुरुष जब श्रीमानों के पवित्र घरों में श्रीसम्पन्न सम्राट आदि होकर जन्म लेते हैं, तो वे अन्य साधारण मनुष्यों की भाँति विषय भोगों में फस क्यों नहीं जाते?" इस पर भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! योगभ्रष्ट पुरुष किसी प्रारब्ध कर्मानुसार योग से विचलित तो अवश्य हो गया है, किन्तु उसका खिंचाव तो परमार्थ की ही ओर बना रहता है। वह न चाहने पर भी परमार्थ की ही ओर बढ़ेगा। क्योंकि वह पहिले ही परमार्थ पथ का अधिकारी बन चुका है। वह सर्वसाधारण पुरुषों की भाँति राज्यादि विषय भोगों की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। दूर क्यों जाते हो? यहीं महाभारत युद्ध में देखलो। दोनों ओर से लड़ने को करोड़ों मनुष्य एकत्रित हुए हैं। सब विजय के उत्सुक हैं, सब विजय के लिये प्रयत्नशील हैं। जो वैतनिक हैं वे अपने वेतन के लोभ से प्राणों तक को निछावर करने को तत्पर हैं। एक तुम हो जो कह रहे हो—"हे गोविन्द! राज्य में क्या रखा है, ये संसारी

भोग किस काम के, स्वजनों की हिंसा करके जीवन से भी क्या लाभ ? इससे तो घर-घर से भिक्षा के टुकड़ों पर ही निर्वाह करना श्रेयस्कर है।" ऐसी तुम्हारी प्रवृत्ति क्यों हुई क्योंकि तुम दैवी सम्पत्ति के अधिकारी हो। योगभ्रष्ट हो, तुम्हारी प्रवृत्ति स्वाभाविक ही परमार्थ की ओर है। युद्धादि जो कर्म तुम कर रहे हो, उन्हें संसारी भोगों की इच्छा से नहीं, स्वधर्म पालन के लिये अपने कर्तव्य को निभाने के लिये कर रहे हो। इसके विपरीत दुर्योधन का एकमात्र उद्देश्य राज्य प्राप्त करना ही है, क्योंकि वह आसुरी प्रकृति का है। जो परमार्थ पथ में बहुत बढ़ चुके हैं, दूसरे तीसरी मंजिलों को पार कर चुके हैं और तब भ्रष्ट हुए हैं, वे तो विघ्नों को पार करके दूसरे तीसरे जन्मों में पार हो ही जायँगे, किन्तु जो अभी पहिली सीढ़ी पर ही चले थे, वे भी यदि योगभ्रष्ट हो जाते हैं, तो शब्द ब्रह्म को तो वे भी पार कर जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—शब्द ब्रह्म क्या ?

भगवान् ने कहा—ऋक्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ये त्रिगुणात्मक है। इनमें सकाम कर्मों का विशेष रूप से निरूपण है। अमुक वैदिक कर्मों को करोगे, तो अमुक फल मिलेगा। स्वर्ग की कामना से-ब्रह्मरूप वेद के शब्दों का तात्पर्य न समझकर उनकी फलश्रुति में ही फँसे रहने वाले-अर्थात् सकाम कर्मों को ही करते रहने वाले-पुरुष शब्द ब्रह्मवादी कहलाते हैं। वे भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक इन तीनों लोकों से आगे कभी नहीं बढ़ पाते। वेदोक्त सकाम कर्मों में लगे रहने से वे स्वर्ग तक चले आवेंगे, फिर पृथ्वी पर आकर जन्म लेंगे, फिर वेदोक्त यज्ञ यागादि करेंगे फिर स्वर्ग चले जायँगे इन्हीं तीनों लोकों में आते जाते रहेंगे। क्योंकि उन्होंने वेद वाक्यों का यथार्थ अर्थ तो समझा नहीं।

फलश्रुति से मुग्ध होकर उसके शब्द जाल में ही फँसे रहते हैं। वे महर्लोक जनलोक और तप तथा सत्यलोकों में नहीं जा सकते।

इस योग मार्ग का जो अधिकारी ही बन गया है जिसने शम, दम, त्याग, तितिक्षा आदि सद्गुणों को प्राप्त करके संसारी विषयों से वैराग्य कर लिया है। कौन सी वस्तु नित्य है कौन अनित्य है। कौन उपादेय है कौन हेय है, ऐसा विचार करके परमार्थ पथ में अभी आगे नहीं बढ़ा केवल चलने का दृढ़ निश्चय भर कर लिया है, उसी को योग मार्ग का जिज्ञासु कहते है। ऐसा योग का जिज्ञासु उस शब्द ब्रह्म से आगे बढ़ जाता है, वह भी महर्लोक जनलोक आदि का क्रम-क्रम से अधिकारी बनता जाता है। जो सदा गृहस्थ में ही रहता है ऐसा गृहस्थी कभी भी त्रिलोकी से आगे नहीं बढ़ता। महर्षि लोग इसका अपवाद हैं। वे गृहस्थ होते हुए भी महर्लोक में पहुँच जाते हैं। क्योंकि वे सकाम कर्मों से ऊपर उठ कर त्याग, विचार विवेक आदि करते रहते हैं। जनलोक में वे लोग जा सकेंगे जिन्होंने कभी भी गृहस्थ धर्म का पालन नहीं किया है, जो ऊर्ध्वरेतो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। गृहस्थ धर्मावलम्बी की उस लोक में गति नहीं। तप लोक में वे ही लोग जा सकेंगे, जिन्होंने गृहस्थ धर्म का परित्याग करके विषयों को विषवत्-वमन किये हुए अन्न की भाँति त्याग कर केवल तपस्या में ही मन लगाते हुए शरीर त्याग किया है। सत्य लोक में वे ही गृह त्यागी, संन्यासी वैरागी जा सकेंगे जिन्होंने विधिवत् सब वर्णाश्रमों को शास्त्रीय विधि से पालन करके-शास्त्र की आज्ञानुसार संन्यास ग्रहण किया है, किन्तु ज्ञान होने से पूर्व ही शरीर छूट गया है, तो वे ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी की आयु पर्यन्त रहकर ब्रह्मा जी के साथ मुक्त हो जायेंगे। योग के जिज्ञासु की गति भिन्न है। योग का जिज्ञासु होने मात्र से ही

वह शब्द ब्रह्मी-से ऊँचा उठ जाता है, उसकी गति को उल्लंघन कर जाता है। भले ही उसे कितने भी जन्म लेने पड़ें उसका पतन नही होता। इसलिये योग मार्ग सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। जिसका केवल जिज्ञासा करने वाला ही त्रिलोकी से पार हो जाता है।

अर्जुन ने पूछा—"योग का जिज्ञासु भी यदि शब्द ब्रह्मी की गति से ऊँचा उठ जाता है, तो उसे स्वर्गादि लोकों से ऊँचे महः जनः तप आदि लोकों में जाना पडता है क्या ?"

भगवान् ने कहा—योग का जिज्ञासु अधिकारी इन लोकों की नश्वरता को तो पहिले ही जान चुका है। वह तो योग के विषय में यत्नवान् होता है। जैसे यम नियम आसन का अभ्यास करते-करते शरीर छूट गया, तो दूसरे जन्म में आसन प्राणायाम प्रत्याहार तक प्रयत्न करेगा, फिर शरीर छूट गया, तो फिर धारणा को सिद्ध करेगा। यदि धारणा में भी सिद्धियों के चक्कर में न फंसा तो ध्यान समाधि तक पहुँच जायगा। उसके चाहे जितने भी जन्म हो जायँ, वह अपने साधन के परिपाक पर्यन्त प्रयत्न ही करता रहेगा।

अर्जुन ने पूछा—जन्मों का व्यवधान पड़ने से उसके प्रयत्न में शिथिलता तो नहीं आ जायगी ?

भगवान् ने कहा—"तुम शिथिलता की बात कहते हो, जन्मों का व्यवधान होने से तो वह दूसरे जन्मों में उत्तरोत्तर और अधिक उत्साह से यत्न करेगा।"

अर्जुन ने पूछा—उसका इस प्रकार अधिक उत्साहित होने का कारण क्या है ?

भगवान् ने कहा—देखो, भैया, साधक को जो जन्म लेना पड़ता है, वह किसी पूर्व जन्म के पाप का ही परिणाम है, कोई वासना बीच में आकर अन्तराय बन जाती है। इसी से साधन

अधूरा ही छोड़कर फिर जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से पापों के अन्तराय के-नष्ट होने से-पापरूपी मल के धुल जाने से, उसका अन्तःकरण अधिकाधिक स्वच्छ बनता जाता है। अनेक जन्मों के साधन सम्बन्धी संस्कार और योग प्रयत्न रूपी परम पुण्य की वृद्धि होने से उसका उत्साह बढ़ता ही जाता है। फिर एक दिन उसे चरम शरीर–अन्तिम शरीर–प्राप्त हो जाता है। उसमें साधन की पराकाष्ठा करने से-साधनों का पूर्ण परिपाक होने के कारण वह परम गति को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वह अनेक जन्मों में प्रयत्न करने वाला साधक अन्त में परागति को प्राप्त कर लेता है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! तब तो यह योग मार्ग वर्णाश्रम धर्म मार्ग-कर्म मार्ग आदि समस्त मार्गों से श्रेष्ठ है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यह सुनकर भगवान् श्री कृष्ण-चन्द्र जी हँस पड़े और योग मार्ग की श्रेष्ठता को उन्होंने जिस प्रकार सिद्ध किया और योग मार्ग से भी बढ़कर भक्ति मार्ग को जैसे सर्वोच्च बताया उसका वर्णन मैं आगे करूंगा। इसे आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

योग-भ्रष्ट की कही पार्थ ! गति तो तैं जैसी।
पावैं जैसे सिद्धि कहूँ गति तिनिकी तैसी ॥
पाप-रहित निष्काम जोगि महँ जतन करत नित।
जनम अनेकनि धारि करत अभ्यास शुद्ध-चित ॥
पावैं वे तत्काल गति, जन्मान्तर सतभाव तैं।
जनम मरन बन्धन छुटैं, जोगी जोग प्रभाव तैं ॥

योग की महत्ता और भक्तियोग की श्रेष्ठता में उपसंहार

[२३]

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥*

(श्री भ० गी० ६ अ० ४६, ४७ श्लोक)

छप्पय

जोग-मार्ग अति सुखद श्रेष्ठ सब ही साधन तैं।
जोगी उत्तम कह्यो अन्य विषयक साधक तैं॥
सब तपसिनि तैं श्रेष्ठ कह्यो जोगी बलशाली।
सब ज्ञानिनि तैं श्रेष्ठ जोग गति बड़ी निराली॥
कर्मकांडहू तैं अधिक, जोगी को सम्मान है।
जोगी तुम अरजुन बनो, सुखकर सरल विधान है॥

---

* तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है तथा वह ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है। योगी तो कर्मयोगियों से भी श्रेष्ठ है। इससे हे अर्जुन! तू योगी ही बन जा ॥४६॥

सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी है और मुझमें ही जिसकी अन्तरात्मा लगी है तथा श्रद्धापूर्वक मेरा ही भजन करता है, मेरी दृष्टि में वह योगी सभी योगियों से परम श्रेष्ठ है ॥४७॥

परम शान्ति के, मुक्तिलाभ करने के तथा प्रभु प्राप्ति के अनेकों उपाय हैं। भगवान् ने गीताजी में इन साधनों की यज्ञ संज्ञा दी है और उन्होंने द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, अष्टाङ्ग योग यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, व्रतयज्ञ तथा प्राणायाम यज्ञादि अनेक यज्ञों का अर्थात् योग का वर्णन किया है। यज्ञ कहो, पूजा कहो, योग कहो अथवा साधन कहो सब एक ही बात है। बहुत से साधन ऐसे होते हैं, जिनमें ईश्वर पर श्रद्धा करने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे सांख्य के अनुसार तत्वज्ञान से मुक्ति बताई गयी है। तत्वों का यथावत् ज्ञान हो जाने से मुक्ति हो जाती हैं, इसमें ईश्वर को चाहें मानों चाहे मत मानों। इसी प्रकार वर्णाश्रम धर्ममार्ग या या कर्म मार्ग है। आप जिस वर्ण के हों, जिस आश्रम में हों, अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार वेद शास्त्रोक्त कर्मों को करते जाओ आपको परमपद की प्राप्ति हो जायगी। अष्टांगयोग में भी ईश्वर के मानने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। योग के अंगों में जो पांच नियम हैं, उनमें एक नियम ईश्वर प्रणिधान अवश्य है, किन्तु आठ अंगों में से एक अंग का भी पंचमभाग है, उसके बिना भी काम चल सकता है। समाधि के कारणों में से "ईश्वर प्रणिधान" को भी एक कारण बताया है, किन्तु वह भी विकल्प से "ईश्वर प्रणिधानात् वा" अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि हो सकती है। सारांश यह हुआ कि समाधि के और भी बहुत उपाय हैं, उनमें एक ईश्वर प्रणिधान भी है। अर्थात् बिना ईश्वर प्रणिधान के भी समाधि हो सकती है। अतः इस मार्ग में भी ईश्वर की श्रद्धा के बिना काम चल सकेगा। इसी प्रकार तप योग में भी ईश्वर श्रद्धा की आवश्यकता नहीं, आप तपस्या करते-करते देहाभ्यास से ऊंचे उठ जाओ। सुख दुख, लाभ अलाभ, जय पराजय आदि द्वन्दों में समबुद्धि वाले बन जाओ। इससे

आपको स्वरूप प्राप्ति अथवा तत्वज्ञान की प्राप्ति हो जायगी। भगवान् ने गीता के छटे अध्याय में अष्टांगयोग पर बहुत अधिक बल दिया। जहाँ दोनों सेनायें युद्ध करने को तैयार खड़ी हैं, उस घोर रणक्षेत्र में भी भगवान् ने अर्जुन को आसन लगाने की, आसन कैसा हो, उस पर क्या-क्या बिछा हो, इन बातों की पूरी विधि बतायी। आहार, विहार का संयम, सोने जागने का प्रकार, संयम की विधि, ध्यान की विधि, प्राणायाम के प्रकार तथा समाधि सुख आदि के विषय में विस्तार से बताया। इन सब बातों का वर्णन यद्यपि किया तो है अत्यन्त संक्षेप में ही, किन्तु इतनी प्रांजल भाषा में किया है, कि योग के बड़े-बड़े ग्रन्थों का सम्पूर्ण सारातिसार आ गया है।

वास्तव में योगमार्ग है भी ऐसा ही। इसमें वर्णाश्रम का विरोध नहीं, किन्तु अपेक्षा भी नहीं। आप किसी भी वर्ण या आश्रम के हों, भले ही अनाश्रमी ही क्यों न हों, योगमार्ग द्वारा परमपद को प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर का विरोध नहीं, फिर भी ईश्वर मानने की योगमार्ग में अपेक्षा नहीं। आप बिना ईश्वर माने भी समाधि सुख का परमशान्ति का आनन्द उठा सकते हैं।

अष्टांगयोग सभी साधनों से सुगम है, सरल है, सर्वसाधन सम्पन्न है। इसमें सीढ़ी प्रति सीढ़ी चढ़ना पड़ता है, और उस-उस सीढ़ी के चढ़ने के अनन्तर जो सिद्धियाँ मिलती जाती हैं, इससे यह भी प्रतीत होता चलता है, कि हम साधनों में आगे बढ़ रहे हैं। यदि कोई सच्चा, कृपालु योग जानने वाला सद्गुरु मिल जाय और उसकी देख देख में उसकी अधीनता में योग साधन किया जाय, तो परमपद की प्राप्ति निःसन्देह हो ही सकती है। परन्तु ऐसा पथ प्रदर्शक गुरु मिलना ही बड़ा दुर्लभ है और विशेषकर इस घोर कलिकाल में। इसीलिये त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ ऋषि मुनियों ने

कलिकाल में इस योगमार्ग को वर्जित किया है। जैसे कलिकाल में अश्वालम्भ, गवालम्भ, सन्यास, पल पेतृक तथा देवर से सुतोत्पत्ति वर्जित हैं, इस प्रकार आज्ञा के रूप में तो योग वर्जित नहीं है। वर्जित करने में उन्होंने विधि का प्रयोग नही किया, किन्तु उसकी कठिनता दुरूहता बतायी है, कि कलिकाल रूपी दावानल ने सभी साधनों को भस्मसात् कर दिया है। इसीलिये कलिकाल में योगी, सिद्ध, ज्ञानी सत्कर्म करने वाले लोग मिलते नहीं। इसीलिये कलियुग में योग तथा तप सिद्ध नहीं होते। कारण इन्द्रियों की वृत्ति अत्यन्त चंचल है, कलियुग पापों का स्थान है ※ किन्तु पूर्वजन्मों के सुकृतों के कारण किसी की योग में प्रवृत्ति हो जाय और उसे साधन की सभी सुविधायें प्राप्त हो जायँ, तो इससे बढ़कर कोई दूसरा सुखकर मार्ग है ही नहीं। बस, इसमें एक ही बड़ा विघ्न है, पग-पग पर प्रत्यक्ष सिद्धियाँ मिलने लगती हैं। इन सिद्धियों का इतना ही उपयोग साधक करे, कि इन्हें अपनी सिद्धि का सूचक समझकर आगे बढ़ता जाय, तब तो ठीक है, किन्तु कदाचित् सिद्धियों के चक्कर में फँस गया, तो फिर पतन निश्चित है। वैसे सिद्धियाँ बहुत से लोगों को जन्म से ही होती है। पक्षियों को आकाश में उड़ने के लिये कोई साधन नहीं करना पड़ता, मछली, कछुओं को जल में सोने और भीतर रहने के लिये साधन नहीं करना पड़ता इनमें उड़ने की तथा सांस बन्द करके जल में रहने की सिद्धियाँ जन्मजात होती है। इसी प्रकार बहुत से योगभ्रष्ट साधक जन्मजात सिद्ध होते हैं, बहुत

※ न सिद्धति कलौ योगो न सिद्धति कलौ तपः।
चञ्चलेन्द्रियवृत्तिः स्यात् कलि कल्मषजृम्भणात्।
अल्पायुः स्यात्तथा नृणां क्वेह योगमहोदयः॥
(काशीखण्डे)

सी औषधियाँ ऐसी होती हैं, जिनसे नवीन शरीर हो जाता है. उनका परों में लेप करने से आदमी आकाश में उड़ सकता है। तपस्या से भी वाक् सिद्धि आदि बहुत सी सिद्धियाँ स्वतः ही आ जाती हैं। मन्त्रों के जप से भी अनेक सिद्धियाँ आ जाती हैं। ये सभी सिद्धियाँ योग मार्ग के द्वारा सरलता से आ जाती है, अतः योगमार्ग में यदि सिद्धियों से बचकर चलता रहे, तो इससे बढ़ कर दूसरा मार्ग नहीं। परन्तु ये सिद्धियाँ इतनी आकर्षक होती हैं और योगमार्ग में ये प्रत्येक अवसर पर ऐसी उपस्थित हो जाती हैं, कि इनसे बचना बड़ा दुर्लभ हो जाता है।

सबसे पहिले तो यम नियमों की ही प्रतिष्ठा से सिद्धियाँ आने लगती है। अहिंसा की प्रतिष्ठा में आस-पास के सिंह-मृग परस्पर मे वैर त्याग देते है। सत्य की प्रतिष्ठा में वाक्सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार सब यमनियमों में सिद्धियाँ आती हैं। आसन प्राणायाम की सिद्धि होने पर शरीर का काया कल्प हो जाता है। सुंदरता ओज तेज बढ़ने लगता है। शरीर से सुगन्ध आने लगती है। मलमूत्र में दुर्गन्ध का नाम नहीं। मल को लोहे ने छुवादो तो सुवर्ण हो जाता है। ऐसे दिव्य शरीर को पुरुष और विशेषकर युवती स्त्रियाँ आलिंगन के लिये अत्यन्त लालायित रहती है। फिर धारणा की सिद्धियों के सम्बन्ध में तो पूछना ही क्या ? उसमें तो साधक ईश्वर तुल्य हो जाता है, जो चाहे सो करले। नई सृष्टि करने की तक की सामर्थ्य आ जाती हैं। उसकी आज्ञा का कोई उलंघन नही कर सकता। जिस लोक में जाना चाहें उसी में जा सकता है, जब तक उनमें रहना चाहे रह सकता है। देवाङ्गनाओं के साथ स्वेच्छा से जैसा चाहें विहार कर सकता है। उसे शाप का भय नही होता, सामर्थ्य अमित हो जाती है। परन्तु इतनी शक्ति सामर्थ्य हो जाने पर भी—योग में आरूढ़ हो जाने पर भी

सिद्धियों के चक्कर में पड़कर योगी पतित हो जाते हैं। हाँ सिद्धियों के चक्कर में न पड़े तो उसका बेड़ा पार ही है। इसलिए भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति को बताया है—माता जी ! यदि योगी का चित्त योग के द्वारा प्राप्त मायामयी अणिमादि सिद्धियों में नहीं फँस जाता, क्योंकि ये सिद्धियों योग के ही द्वारा प्राप्त हो सकती है। योग के अतिरिक्त इतनी दिव्य सिद्धियाँ अन्य किसी भी साधन से प्राप्त हो नही सकती। उन सिद्धियों के चक्कर में यदि योगी न पड़ जाय, तो उसे मेरा (भगवान् का) वह अविनाशी परमपद प्राप्त हो जाता है, जहाँ मृत्यु की दाल नही गलती जिस योगी को देखकर मृत्यु हँसती नहीं है। अर्थात् वह मृत्यु को तर जाता है।

इस प्रकार योग मार्ग परमश्रेष्ठ होने पर भी इसमें यही एक बड़ी कठिनाई है। यह कठिनाई कैसे दूर की जा सकती है ? इसका एक मात्र उपाय यही है कि सब साधनों को ब्रह्मार्पण बुद्धि से करे, जो करे उसे श्री कृष्णार्पण करता चले, अपने में कर्तृत्व का अभिमान न आने दें। भगवान् में श्रद्धा रखकर मन को भगवान् में लगा दें, शरीर से भगवान् को ही प्रणाम करता रहे, संसार के किसी भी प्राणी का भक्त न होकर–भगवान् का ही भक्त बन जाय। जो भी साधन करे भगवत् अर्पण बुद्धि से करे तब तो न वह सिद्धियों के चक्कर में पड़ेगा और न उसका पतन ही होगा।

योगाभ्यास में परिश्रम भक्त और अभक्त का श्रम समान ही है, किन्तु भक्त उस छोटे बालक के समान है, जिसकी रेख-देख माता सदा सर्वदा करती रहती है। पल भर भी उसकी सुरति नहीं बिसारती। जो केवल अपने साधन के ही बल पर संसार सागर को पार करना चाहते हैं। वे उस समर्थ बालक के समान

हैं, जिसकी माता विशेष परवाह नहीं करती। माँगने पर भोजन वस्त्र दे देती है। वह समझती है, यह तो समर्थ है, सब अपने पुरुषार्थ से ही पैदा कर लेगा।

इसलिये भगवान् के आश्रय पर रहने वाला, सब कुछ उन्हीं के निमित्त चेष्टा करने वाला योग साधक सबसे श्रेष्ठतम है, ऐसे भगवद् भक्त उत्तम साधक से बढ़कर कोई अन्य साधक नहीं हो सकता।

छटा अध्याय निष्काम कर्म योग अलिंग संन्यास से आरम्भ हुआ था। भगवान् ने संन्यासी वेष को महत्व नहीं दिया-उन्होंने आरम्भ ही यहाँ किया कि कर्मों के फल को न चाहते हुए जो कर्तव्य कर्मों को निरन्तर करता रहता है, वास्तव में तो वही संन्यासी है। जो कपड़े रंगकर कर्मों को छोड़कर-गृहस्थ के जो अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म हैं उन्हें त्यागकर घर-घर से बनी बनायी रोटी माँगते फिरते हैं। बलिवैश्य देव के चक्कर से बचने को स्वयं पाक नहीं करते, ऐसे वेष बनाने वाले तो सट्ट-पट्ट ही है। फिर भगवान् ने योग का अर्थ बताया कि योग का भी अर्थ संन्यास ही है। बिना संन्यास के-कर्म फल के-कोई संन्यासी हो ही नहीं सकता। इस प्रकार अध्याय को आरम्भ करके फिर संयम योग, ध्यान, धारणा सबका वर्णन करके उपसंहार इसी में किया, किन्तु योग तो सबसे श्रेष्ठ है ही, किन्तु भक्ति पूर्वक किया हुआ योग भगवत् अर्पण बुद्धि से किया हुआ योग, निष्काम भाव से किया हुआ कर्म योग सभी साधनों में श्रेष्ठतम है और उसका करने वाला श्रद्धालु भक्त कर्म योगी मेरे मत से युक्ततम है। श्रेष्ठाति श्रेष्ठ है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! योगी की महिमा बताते हुए भगवान् अर्जुन से कहने लगे—अर्जुन! जितने ही तपस्वी हैं।

तपस्या को ही अपना साधन मानते हैं, उन सबसे योगी अधिक है अर्थात श्रेष्ठ है।

अर्जुन ने पूछा—"तपस्वियों मे तो योगी श्रेष्ठ होगा ही। किन्तु ज्ञानियों मे श्रेष्ठ न होगा?"

भगवान् ने कहा—हो सकता है, ऐसा ही हो, किन्तु मेरे मत से तो ज्ञानियों से भी विशेष योगी को माना गया है।

अर्जुन ने पूछा—वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म करने वाले वर्णाश्रमियों का मार्ग तो निरापद है। वह तो सबसे श्रेष्ठ है?

भगवान् ने कहा—वह निरापद तो है. किन्तु उसमें प्रतीक्षा बहुत है। यह योग मार्ग निरापद भी है और इसमें किसी वर्णाश्रम की अपेक्षा नहीं। आप जिस वर्ण में हो, जिस आश्रम में हो योगसाधन कर सकते है?

अर्जुन ने पूछा—मैं गृहस्थ हूँ, क्षत्रिय हूँ, मै योग साधन कर सकता हूँ?

भगवान् ने कहा—"अवश्यक कर सकते हो। मेरी तो सम्मति यही है, कि तुम योगी ही हो जाओ।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! योगी तो अनेक प्रकार के होते हैं। बहुत से कुन्डलिनी योग करते हैं, बहुत से अष्टांगयोग, बहुत से हठयोग, बहुत से ज्ञान योग, बहुत से भक्तियोग। इन सब योग, करने वाले योगियों में सबसे श्रेष्ठ योगी कौन है?

यह सुनकर भगवान् हंस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"सच सच बतादूं?"

अर्जुन ने कहा—महाराज झूठ का क्या काम? सच-सच ही बता दो।"

भगवान् धीरे से कहा—"देखो, सब योगियों में श्रेष्ठ तो मैं

उसी योगी को समझता हूँ, जिसका चित्त सर्वदा मेरे में ही लगा रहता हो। और एकाग्रचित्त से मेरा ही भजन करता रहता हो।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज ! यह तो आप कुछ पक्षपात की बातकर रहें हैं।"

भगवान् ने कहा—बात किसी न किसी पक्ष की ही की जाती है। कोई झूठ का पक्ष लेता है कोई सत्य का पक्ष। कोई दूसरे का पक्ष लेता है कोई अपना पक्ष। मैंने तो सत्य का पक्ष लिया है और किसी दूसरे का नहीं अपना ही पक्ष लिया है जो मेरे पक्ष का है मेरे में पक्ष का है मेरे में ही चित्त लगाता है, मेरा ही भजन करता है, जो भी कुछ करता है, मुझे ही समर्पण करता है, मेरे ही आश्रय में रहता है, मुझे ही अपना सब कुछ समझता है, ऐसे योगी को मैं युक्ततम सर्वश्रेष्ठ योगी समझता हूँ, यही मेरा दृढ़मत है।

सूतजी कहते है—मुनियो ! जब भगवान् अपने आश्रम में रहने वाले, अपने में ही आसक्तचित्त भक्त को श्रेष्ठतम बताया, तब अर्जुन की स्वाभाविकी इच्छा यह होनी थी, कि आपको हम कैसे जाने ? अर्जुन की मन की बात जानकर त्रिकालज्ञ भगवान् बिना पूछे ही अपने आप ही जैसे इसका उत्तर सप्तम अध्याय में देंगे उसका वर्णन मै आगे करूंगा इस प्रकार यह अध्यात्म सयम योग नाम का छटा अध्याय समाप्त हुआ।

छप्पय

योगिनि तैं हू बड़े भक्त हैं मद्गत प्रानी।
मोमैं सरवसु सौंपि रहै सुख तैं विज्ञानी॥
श्रद्धा संयम सहित चित्त मो माहिँ लगावै।
ऐसो मेरो भक्त परम पदवी कूँ पावै॥
ऐसो जोगी जो सतत, ध्यान मगन मेरे रहै।
सब जोगिनि तैं श्रेष्ठ है, भक्त युक्ततम श्रुति कहै॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योग शास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद रूप में है उसमें अध्यात्म योग या कर्मयोग नाम का छटा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

श्री पार्थसारथये नमः

गीता-वार्ता

सप्तमोऽध्यायः

(७)

विज्ञान सहित ज्ञान का वर्णन

श्रीभगवानुवाच

[१]

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ॐ

(श्री भग० गी० ७ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

बोले श्रीभगवान–पार्थ ! अब युक्ति बताऊँ ।
पावें मोकूँ तुरत असंशय रहित जताऊँ ॥
मोमें मन आसक्त करै अति योग भक्ति तैं ।
पावै मोइ अनन्य भावयुत योग शक्ति तैं ॥
मैं विभूति भग गुन सहित, सब ऐश्वर्यनि युक्त हूँ ।
आत्मरूप मोकूँ लखै, जो सब बल संयुक्त हूँ ॥

ॐ श्री भगवान् ने कहा—हे पार्थ ! मेरे मे आसक्त मन वाला और मेरे परायण तू योगाभ्यास में निरत जिस प्रकार संशय रहित समग्र रूप में मुझे जान सकेगा, अब तू उसे ही मुझसे सुन ।।१।।

मैं तुझसे इस विज्ञान-सहित ज्ञान को पूर्ण रूप से कहूँगा । जिसे जान कर इस लोक में फिर कुछ भी जानने योग्य अवशेष नही रहता है ।।२।।

गीता शास्त्र भक्तिमय है। मनीषियों ने भक्ति के बहुत प्रकार बताये हैं इसमें शरणागत भक्ति सबसे प्रधान है। भगवत्स्वरूप सद्गुरु की शरण में जाने से वे ज्ञान विज्ञान का उपदेश देंगे, जिससे इस संसार रूप सागर से सुखपूर्वक तर सकेंगे। बिना भगवत् शरणापन्न हुए जीव का उद्धार नहीं। जब तक वह लोक धर्मों में फंसा रहेगा, तब तक उसे शाश्वती शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब वह समस्त लोकधर्मों का परित्याग करके एक-मात्र भगवान् श्रीश्यामसुंदर जी की शरण में जायगा, तो वह समस्त पापों से सभी प्रकार के शोक मोह आदि से छूट जायगा। यही समस्त गीता का प्रतिपाद्य विषय है। गीता के आदि में भक्ति है "शिष्यस्तेऽहं शाधिमामत्वां प्रपन्नम्" (प्रथम अध्याय) मैं तुम्हारा शिष्य हूँ तुम्हारी शरण में आया हूँ, मुझ शरणागत की रक्षा कीजिये शिक्षा दीजिये। गीता के मध्य में भक्ति "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजीमांनमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः" (नवम अध्याय) तुम अपने मन को एकमात्र मुझ में ही लगा दो। स्पष्ट कहता हूँ तुम मेरे भक्त बन जाओ। तुम्हें पूजन करना हो, तो मेरा ही पूजन करो, प्रणाम भी करना हो, तो मुझे ही करो, अपनी आत्मा को मुझमें ही युक्त कर दो, और मेरे ही परायण हो जाओ। इससे तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। संसार तुमसे पीछे छूट जायगा।"

गीता के अन्त में भी भक्ति है, भक्ति में ही उसका उपसंहार करते हुए भगवान् ने मध्य में नवम अध्याय में कहे हुए इसी वचन को ज्यों का त्यों चतुर्थपाद के तनिक से हेर-फेर से फिर दुहरा दिया है। देखना, याद रखना तुम अपने मन को मेरे में ही लगा देना भला, भूल मत करना मेरे ही भक्त बन जाना, किसी संसारी व्यक्ति के भक्त न होना, पूजन यजन जो भी करना हो मेरा ही

करना,नमस्कार भी मुझे ही करना। मुझी को प्राप्त हो जाओगे। हाथ मारकर कहता हूँ, शपथ पूर्वक कहता हूँ, प्रतिज्ञा करके कहता हूँ क्योंकि तुम मेरे प्यारे-दुलारे शरणापन्न भक्त हो। और इसके अनन्तर सबसे अन्तिम श्लोक में स्पष्ट कह दिया—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकंशरणं व्रज। अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः (१८ वाँ अध्याय ६६ श्लोक) अर्जुन तुम एक काम करो, मेरी सबसे गुह्य महान् रहस्यमय, परमगुप्त बात सुनलो। तुमको सबसे अन्त में सार उपदेश देता हूँ तुम समस्त लोक धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण में आजाओ। मेरे शरणागत हो जाओ। मुझे ही अपना सर्वस्व मानलो। तुम पापों से मत घबराना। मैं महान् सामर्थ्यशाली हूँ, तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। शोक का पूर्ण रूप से परित्याग कर दो। शोक मत करना भला! शोकरहित निर्भय हो जाना भला!

इस प्रकार गीता के आदि में भक्ति, गीता के मध्य में भक्ति गीता के अन्त में भक्ति। गीता भक्ति सम्बन्धी ग्रन्थ है, गीता का प्रयोजन अर्जुन को शरणागत भक्ति का उपदेश देना है। गीता ज्ञान का महान् अधिकारी परम भक्त अर्जुन! गीता में केवल भक्ति के ही सम्बन्ध की बात कही गयीं हैं। गीता के पद-पद में श्लोक-श्लोक में, शब्द-शब्द में भक्ति ही है। भक्ति के अतिरिक्त उसमें कुछ भी नही है और भक्ति का पर्यायवाची शब्द है, निष्काम कर्मयोग। अर्थात् तुम जो करो, मेरे अर्पण करके करो, जो खाओ मेरे अर्पण करके खाओ। जो यज्ञ करो मुझे अर्पण करदो, जो दान दो मेरे अर्पण करके दो। जो भी तपस्या करो उसे भी मेरे अर्पण दो। सारांश अपने लिये कुछ भी मत करो। निष्काम भाव से मेरे निमित्त करो। मत्परायण हो जाओ। कर्मों में कामना करने से ही इस लोक में या परलोक में बन्धन होता है।

यह ज्ञान पूर्ण रूप से हो जाय कि मैं ही प्राणीमात्र का सुहृद हूँ, तो परमशान्ति मिल सकती है। अतः गीता वक्ता भगवान् नारायण गीता श्रोता नर रूप परमभक्त अर्जुन को समग्र भक्ति का ही उपदेश देते हैं। आप कहेंगे गीता में आप भक्तियोग शरणागत योग समर्पणयोग, प्रपन्नयोग, शाश्वतयोग अथवा निष्काम कर्मयोग ही केवल क्यों बताते हैं। इसमें तो ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टांगयोग सभी का वर्णन है।

बात आपकी ठीक है, सोलह आने ठीक है, सौ पैसे ठीक है। गीता में अनेक योगों का वर्णन है और उन योगों को करने की विधि का भी वर्णन है, किन्तु उन सबको भक्ति के सहित करने की आज्ञा है। आप चाहें जिस योग का आश्रय लें, आपको जो योग अनुकूल पड़े उसी का अभ्यास करें किन्तु उसे निष्काम भाव से श्रद्धाभक्ति से युक्त होकर ब्रह्मार्पण बुद्धि से भक्ति सहित भक्त बनकर भक्तिभाव से करें यही भगवान् का कहना है। भक्ति रहित कर्म किसी काम का नहीं। भक्ति रहित ज्ञान दो कौड़ी का भी नहीं। भक्तिरहित योग नीरस है। मुक्ति तो असुर राक्षसों की भी हो जाती है। भगवान् के हाथ से जो मरता है, वही मुक्त हो जाता है, किन्तु भक्ति को तो भगवान् का अत्यन्त प्यारा भगवत्भक्त ही प्राप्त कर सकता है। भक्त केवल मुक्ति ही नहीं चाहते है वे भक्ति ही चाहते हैं। क्योंकि मुक्ति तो उनके घर की ही है। भक्ति महारानी की भक्ति तो दासी है और ज्ञान वैराग्य दोनों भक्ति के पुत्र हैं, हमारी माँ भक्ति के।

भगवान् ने ज्ञान की प्रशंसा बहुत की है, आवश्यकता से अधिक किन्तु वह ज्ञान कोरा न हो, रूखा न हो, शुष्क सत्तू की भाँति न हो। भगवान् ने कर्म की भी बड़ी प्रशंसा की है, कर्म से ही सिद्धि बतायी है। एक क्षण भी कोई कर्म किये बिना रह

नहीं सकता। यह कहकर कर्म का अनिवार्यत्व सिद्ध किया है, किन्तु वह कर्म अपने लिये न हो, सकाम भाव से न किया गया हो, निष्काम भाव से ब्रह्मार्पण बुद्धि से-प्रभुप्रीत्यर्थ किया हुआ हो। अष्टांग योग को तपस्या, ज्ञान, कर्म सबसे श्रेष्ठ बताया है किन्तु वह योग ईश्वर रहित न हो श्रद्धावान् साधक द्वारा भगवत् गत मानस भगवत्भक्त द्वारा किया गया हो। जो भी साधन बताया है उस सबमें भक्ति का पुट देकर उसकी संज्ञा भक्ति ही कर दी है। जैसे खोये से गोले बनाये हो, चाहे मूँग उड़द की पिट्टी से, अथवा चने के, गेहूँ के किसी के भी आटे से बने हों, उन्हें चीनी के बक्खर में डुबो दो, अथवा चीनी में सान दो, सराबोर कर दो। तो उन सबकी मिठाई ही संज्ञा हो जायगी। नाम भले ही अलग-अलग रखलो, खोये की मिठाई (खोये के लड्डू पेडा) छेना की मिठाई रसगुल्ला, चमचम, लवंगलता आदि गेहूँ की मिठाई (लड्डू आदि) बेसन की मिठाई (बेसन के लड्डू नुक्ती आदि) उड़द की मिठाई (बालूसाही आदि) किसी भी मिठाई को खाओ उसमें मिठास अवश्य होगी। इसी प्रकार गीता के ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टांगयोग, तपयोग जितने भी योग है सब भक्तिरूपी चीनी के पाक में पगे हुए हैं। इसलिये अब समत्वज्ञान का जो छटे अध्याय में वर्णन किया है उसी का स्पष्टीकरण करने के लिये भगवान् सप्तम अध्याय में ज्ञान विज्ञान योग का वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अपने भजन करने वाले को श्रेष्ठतम-युक्ततम-योगी बताया, तो अर्जुन के मन मे स्वाभाविक जिज्ञासा हुई कि भगवान् के किस रूप का भजन करें और चित्त को उनमें लगावें कैसे?" सर्वज्ञ भगवान् बिना पूछे ही इसका उत्तर देने लगे।

भगवान् ने कहा"—अर्जुन ! दो काम तुम करो।"

अर्जुन ने पूछा—कौन-कौन से दो काम करूँ प्रभो !

भगवान् ने कहा—"पहिला काम तो तुम यह करो कि मेरे में मन को आसक्त कर दो और दूसरा यह कि योग का अभ्यास करते हुए मेरे ही आश्रय में रहो। अन्य किसी दूसरे का आश्रय सर्वथा त्याग दो।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! अपने मन को आप में कैसे आसक्त करदें और किस प्रकार सबका आश्रय छोड़कर आपके ही आश्रित रहकर योग करें। इन दोनों ही की युक्ति कृपा करके बता दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, मैं तुम्हें इन दोनों की युक्ति अवश्य बताऊंगा, जिससे तुम पूर्णतया संशय रहित होकर इन विषयों को जान लोगे। अच्छा तो मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनो।"

अर्जुन ने पूछा—कैसा उपदेश करेंगे प्रभो !

भगवान् ने कहा—"देखो, शास्त्रों द्वारा या आचार्यों द्वारा जो तत्त्व का बोध होता है, उसे ज्ञान कहते हैं। और वही ज्ञान जब विचार की परिपक्वता से निष्पन्न हो जाता है, वही ज्ञान जब अपने अनुभव में आकर अपने जीवन में परिणित हो जाता है, उसी स्वतः अनुभूत ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। इसलिये मैं तुम्हें शास्त्रीय ढंग से भी समझाऊंगा और अपनी अनुभूति द्वारा जो मैंने स्वतः निष्कर्ष निकाला है उसे भी समझाऊँगा। अतः विज्ञान सहित ज्ञान का अधूरा नहीं पूर्णतया उपदेश करूँगा।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! संसार में अनन्त शास्त्र हैं, बहुत सी विद्यायें हैं, आप किन-किन की जानकारी मुझे करावेंगे।"

भगवान् ने कहा—जैसे मिट्टी के अनेक नाम अनेक रूप वाले बहुत पात्र हैं। एक मिट्टी का स्वरूप ज्ञान हो जाने से सभी का

बोध हो जायगा। चीनी के बने अनेक नामों के अनेक रूपों के अनेक खिलौने हैं। चीनी का यथार्थ ज्ञान होने से सबका बोध हो जायगा। इसी प्रकार विज्ञान सहित मैं तुमको एक ऐसे ज्ञान का उपदेश करूँगा, जिसे जान लेने पर तुम फिर सब कुछ जान जाओगे, फिर संसार में जानने योग्य कोई दूसरा पदार्थ शेष ही न रहेगा।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! आपके इस विज्ञान सहित ज्ञान को जानने वाले तो बहुत से लोग होंगे ?

यह सुनकर भगवान् खिलखिला कर हंस पड़े और हंसते हुए बोले—"अर्जुन ! क्या बात कर रहे हो। यह ज्ञान सरल नहीं। टेढ़ी खोर है। समझना जान लेना तो बहुत दूर की बात है, इस ज्ञान को जान लेने की अभिलाषा करने वाले व्यक्ति भी दुर्लभ हैं। इस ज्ञान का फल साधारण न होकर महान् है। इसे तो वही पूर्णरोत्या जान सकता है, जिस पर मेरी पूर्ण कृपा हो। तुम मेरे परम कृपापात्रों में से एक हो, इसीलिये मैं तुमको सब खोलकर यथार्थ बात बता रहा हूँ। वैसे इस विषय के जिज्ञासुओं का ही मिलना दुर्लभ है, इस ज्ञान की सिद्धि के लिये कोई विरला ही यत्नवान होता है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! अनुमानतः कितने सर्व साधारण लोगों में से इसका एक जिज्ञासु होता होगा ? क्या एक प्रतिशत लोग जिज्ञासु होते होंगे ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने कितने लोगों में से एक जिज्ञासु होता है, यह प्रश्न किया, तो भगवान् ने इसका जो उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अरजुन ! तोकूँ तत्त्व ज्ञान को सार सुनाऊँ।
केवल ज्ञानहि नहीं सहित विज्ञान बताऊँ॥
जाकूँ पूरन जानि जगत में सुख अति पावै।
मिटैं सकल भ्रम मोह फेरि नहि आवै जावै॥
जाइ जानिकें रहै नहिं, फिरि कछु जानन जोग है।
सब सारनि को सार यह, अति रहस्यमय जोग है॥

भगवान की अपरा प्रकृति

[२]

मनुष्यणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥*
(श्री भग० गी० ७ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

सब नहिँ जानें जोग भाग्यशाली ही जानें।
जग के भोग अनित्य सार साधन ही मानें॥
सहस जननि में करै जतन साधन हित कोई।
साधक साधन करै भक्ति भाजन है जोई॥
उन असंख्य साधकनि में, भाग्यवान कोई सरल।
जानै मोकूँ तत्त्व तैं, रूप जथारथ भक्त भल॥

ब्रह्माजी ने इन्द्रियों के गोलकों को बाहर की ही ओर बनाया

---

* सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक ही सिद्धि के लिये यत्न करता है, उन यत्न करने वाले सिद्धों में से कोई ही मुझे तत्त्वतः जानता है ॥३॥
पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस भाँति यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है ॥४॥

है अतः ये बाहर की ही वस्तुओं को देखती हैं। इन इन्द्रियों में भीतर देखने की शक्ति है, किन्तु वह शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है, उसका उपयोग कोई विरला ही साधक कर सकता है। आँखे बाहर के ही घट पट आदि पदार्थों को देख सकती हैं, क्योंकि ये बाहर की ही ओर खुलती हैं। कोई इन आँखों को बन्द करके भीतर देखने की चेष्टा करें तो उसकी अन्तर्ज्योति हो जायगी वह भीतर की ज्योति का दर्शन कर सकेगा। इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय को बाहर की ओर से हटाकर भीतर की ओर ले जाय तो उसे अनहदनाद सुनायी पड़ेगा. घ्राणेन्द्रिय को बाहर जाने से रोक कर भीतर की ओर ले जायँ, तो उसे अपने शरीर में ही दिव्य गन्ध आने लगेगी। रसना सम्बन्धी बाहरी स्वादों का संयम करके भीतर के रस का आस्वादन करने लगे, तो उसे दिव्य स्वाद की अनुभूति होने लगेगी। वाह्य स्पर्शों में आसक्त न होकर भीतर के सुख का अनुभव करने लगे, तो उसे ब्रह्म संस्पर्श सुख का अनुभव होने लगेगा। किन्तु यह अन्तर्वृत्ति तभी हो सकती है, जब वाह्य वृत्ति से सर्वथा उपराम हो जाय। बाहर की ओर वृत्ति ही न जाने दे। तभी अभ्यान्तर वृत्ति होती है। यह जीव जब से जगदाधार से विछुड़ा है, तब से यह वाह्य विषयों का उपभोग करता रहा है। इसीलिये इसकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति विषयों में ही है। किसी भी योनि में जायगा, वहीं आहार, निद्रा और मैथुन की खोज करने लगेगा। वाह्य विषयों में यह ऐसा अभ्यस्त हो गया है; कि इसके अतिरिक्त कोई दूसरे भी विषय हैं, इसका इसे ज्ञान ही नहीं।

इस संसार में दो प्रकार के जीव प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। नित्य और मुक्त जीवों का दर्शन तो किसी भाग्यशाली को ही होता है, नहीं तो संसार में बद्ध और मुमुक्षु दो ही प्रकार के

जीव दृष्टि गोचर होते हैं। बद्ध जीव तो प्रकृति के भोगों में बँधे हुये एक योनि से दूसरी योनि में आते जाते रहते हैं। कोई बहुत भाग्य शाली हुए तो स्वर्ग तक पहुँच जाते हैं। पुण्य क्षीण होने पर पुन: अन्य योनियों में भटकते रहते हैं।

इन बद्ध जीवों में से कभा कोई जिज्ञासु अथवा मुमुक्षु भी दृष्टिगोचर हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक पर्वत में मणि नहीं होती प्रत्येक हाथी के मस्तक में मुक्ता नहीं होती और न प्रत्येक वन में चन्दन का वृक्ष ही होता है जैसे किसी विरले पर्वत से ही मणि निकलती है, किसी विरले ही हाथी के मस्तक में गज-मुक्ता होता है, किसी विरले ही वन में चन्दन का वृक्ष होता है। उसी प्रकार किसी विरले ही ग्राम, नगर, प्रदेश अथवा देश में मुमुक्षु पुरुष होते हैं।

धन, पद, प्रतिष्ठा, सौंदर्य आदि वस्तुएँ ये सब संसार में अधिकाधिक बाँधने वाली ही हैं। आप यह न समझें कि कोई बड़ा भारी धनी है, तो वह मुमुक्षु भी होगा। कोई संसार के बड़े भारी पद पर प्रतिष्ठित हो गया, तो वह मुमुक्षु भी होगा। इन्द्र पद पर भी कभी-कभी बद्धजीव भी प्रतिष्ठित हो जाता है। मुमुक्षु तो सभी में मिल जाते हैं। मुमुक्षु कुल, जाति, वर्ण, धनी, निर्धन, किसी की अपेक्षा नहीं करते। वे सब में सर्वत्र, सदा मिल जाते हैं, किन्तु होते हैं बहुत कम निन्यानवे सहस्र नौसौ निन्यानवे में से कोई एक मुमुक्षु होता है।

मुमुक्षु की पहिचान यही है, कि उसे संसारी विषय विषवत् प्रतीत हों। विषय भोग उसे काटने को दौड़ते हुए से दिखायी दें। जिसके मन में सदा यही ऊहापोह होती रहती है, कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कौन मेरी माता है, कौन मेरे पिता हैं, इस संसार में, मेरे आने का प्रयोजन क्या है। ये अनित्य

संसारी क्षणभंगुर भोग मुझे तृप्त कैसे कर सकेंगे। मुझे शाश्वती शांति कैसे मिल सकेगी। मैं इस संसार जाल से कैसे मुक्त हो सकूँगा। इस संसार सागर से मुझे कौन उस पार लगावेगा ? ये प्रश्न जिसके हृदय में निरन्तर उठते रहें। संसारी विषय भोग जिसे कड़वे लगे, समझो यह मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष को इच्छा वाला जीव है–बद्ध जीव नहीं है। ऐसे मुमुक्षु को कोई भाग्यवश सद्गुरु मिल जाय और वह मुक्ति के लिये सिद्धि के लिये प्रयत्न-शील हो जाय, ऐसे प्रयत्नशील मुमुक्षु तो और भी दुर्लभ हैं। जो सिद्धि के लिये प्रयत्न करे वह भी सिद्ध होहै। जैसे विद्या के लिये प्रयत्न करने वाला विद्यार्थी कहलाता है उसे ही सिद्धि के लिये प्रयत्न करने वाला सिद्धयार्थी सिद्ध होता है। इन सिद्धों में से भी जो वास्तव में सिद्ध हो गया हो, जिसे पर वस्तु का तत्त्वत: परिज्ञान हो गया हो, ऐसे जीवन मुक्त तत्त्व ज्ञानी महापुरुषों का तो मिलना ही दुर्लभ है। ऐसे लोगों का दर्शन बड़े भाग्यशाली मुमुक्षुओं को हो होता है। बद्ध जीव तो उसे पहिचान ही नहीं सकते।

यह तत्त्वज्ञान कैसे हो ? जब इस दृश्य प्रपञ्च का रहस्य हमारी बुद्धि में आ जाय। हमें आठ प्रहर चौसट घड़ी यह संसार ही दिखायी देता है। इस संसार में है क्या ? दो ही वस्तुएँ हमें दृष्टिगोचर होती हैं। एक जड़ दूसरी चैतन्य। एक चर दूसरी अचर, एक स्थावर दूसरी जंगम। एक प्रकृति दूसरा जीव। पहिले प्रकृति को ही समझना चाहिये तब जीव के सम्बन्ध में समझा जा सकता है। जिसे प्रकृति का ही यथार्थ बोध नहीं, उसे तत्त्व ज्ञान कैसे होगा, अत. सर्वप्रथम प्रकृति का परिचय भगवान् अपने परम भक्त अर्जुन को कराते हैं।

सूतजी कहते हैं–मुनियो ! अर्जुन ने जब जिज्ञासा की, कि

भगवन् ! कितने मनुष्यों में खोजने पर मुमुक्षु या जिज्ञासु मिल सकता है, तब भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! दस बीसों में नहीं, सौ दो सौ में भी नहीं सहस्रों में कोई विरला ही मुक्ति के लिये सिद्धि के लिए-भगवत् प्राप्ति के लिये-प्रयत्न करता है। संसार मेंवह भी बड़ा भाग्यशाली है. क्योंकि जैव धर्म का तो विषयों कीओर बढ़ना ही है। वह जैव धर्म को लाँघकर उससे ऊँचा उठ कर परमार्थ की ओर प्रयत्न शील हो रहा है अतः यत्न करने वाले को हम सिद्ध महा पुरुष ही कहेंगे।"

अर्जुन ने कहा— 'ही क्यों लगाते हैं भगवन् ! उसे पूरा सिद्ध क्यों नहीं कहते ?

भगवान् ने कहा—जो जिस कक्षा में पढ़ता है उस कक्षा वाला विद्यार्थी कहाता अवश्य है। किन्तु जब वह उस कक्षा में उत्तीर्ण हो जाय तभी उसे प्रमाण पत्र मिलेगा।

अर्जुन ने कहा—जो पढ़ रहा है, उत्तीर्ण हो ही जायगा।

भगवान् ने कहा—नहीं, यह बात नहीं। सभी पढ़ने वाले उत्तीर्ण ही हो जायें, सो बात नहीं, बहुत से पढ़ते-पढ़ते अनुत्तीर्ण भी हो जाते है। पूर्णरीत्या-सर्वप्रथम-उत्तीर्ण होने वाले कुछ ही विद्यार्थी होते हैं। इसी प्रकार प्रयत्न करने वाले सिद्धों में से कोई ही मुझे तत्वतः जानता है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! मै कैसा हूँ ?

भगवान् ने कहा—अरे, तेरे विषय में क्या पूछना है, तू तो मेरा अत्यन्त प्रिय है, परम जिज्ञासु है। यथार्थ मुमुक्षु है।

अर्जुन ने कहा—तब भगवान् ! मुझे प्रकृति पुरुष तत्व का जड़ चैतन्य के स्वरूप का ज्ञान कराइये।

भगवान् ने कहा—अच्छा सुनो, पहिले मैं तुम्हें स्थूल प्रकृति

का ही ज्ञान कराता हूँ। देखो, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश, मन और अहंकार ये मेरी अपरा प्रकृति हैं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! ये जो हमें पृथ्वी जलादि पंचभूत दिखायी दे रहे हैं ये ही आप की अपरा प्रकृति हैं क्या!

भगवान् ने कहा—"नहीं भैया! तुम्हें जो ये सामने पंचभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ दिखायी देती हैं, ये तो प्रकृति की विकृति हैं। ये तो प्रकृति के "विकार" हैं।"

अर्जुन ने पूछा—तो उपरोक्त पृथ्वी, जलादि क्या है?

भगवान् ने कहा—ये पंचभूतो के सूक्ष्मावस्थारूप गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये तन्मात्रायें हैं। सांख्यमत से पहिले प्रकृति से महत्तत्व हुआ और महत्तत्व से अहंतत्व यहाँ तक तो प्रकृति अपने स्वरूप में रही। फिर अहंतत्व सात्विक, राजस् तामस् तीन प्रकार का हुआ। सात्विक से इन्द्रियों के अधिष्ठातृरूप देवता हुए। राजस् से इन्द्रियाँ और तामस् से पंच महाभूत। इस प्रकार गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, मूलप्रकृति, महत्तत्व और अहंतत्व ये आठ तो प्रकृति और पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन और पंचभूत ये १६ 'विकार' इस प्रकार १६ और ८ मिलकर २४ तत्त्वों की संख्या सांख्य मत से है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! आपने इस अष्टधा प्रकृति का अपरा प्रकृति या भिन्ना प्रकृति विशेषण दिया। इससे प्रतीत होता है, कोई आपकी पराप्रकृति भी होगी?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न को सुनकर भगवान् ने कहा—हाँ, मेरी एक पराप्रकृति भी है।" अब भगवान् जैसे अर्जुन को पराप्रकृति का उपदेश करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मेरी द्वै हैं प्रकृति परा अपरा कहलावें।
ये दोऊ मिलि प्रकृति चराचर विश्व बनावें॥
पंचभूत सब कहे भूमि जल और अगिनि ये।
वायु और आकाश व्याप्त हैं जड़ चेतन ये॥
अहंकार मन, बुद्धि इनि, तीनहु देउ मिलाय जब।
पाँच तीन मिलि आठ हैं, अपरा प्रकृति कहाहिँ सब॥

जीवरूपा परा प्रकृति

[२]

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० ५, ६ श्लोक)

छप्पय

आठ भाँति की प्रकृति कहें जड़ अपरा ज्ञानी ।
जितनी है जड़ सृष्टि इनहिँ की संज्ञा जानी ॥
महाबाहु ! तुम सुनो दूसरी परा प्रकृति है ।
है अपरा तैं भिन्न सबनि की यह ही गति है ॥
जाकी संज्ञा जीव है, जाके बिनु जड़ बनि जरें ।
संज्ञा चेतन प्रकृति हू, जा द्वारा किरिया करें ॥

यह दृश्य जगत प्रकृति और पुरुष के संयोग से चल रहा है ।

---

* यह अष्टधा तो मेरी अपरा प्रकृति है । हे महाबाहो ! इसके अतिरिक्त मेरी एक जीवरूपा दूसरी परा प्रकृति है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है । ऐसा तू जान ॥५॥

ये सम्पूर्ण प्राणी इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होते हैं ऐसा तुम समझो । और मैं इस सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति और प्रलय स्वरूप हूँ ॥६॥

भगवान् ने इस संसार में अट्ठाईस ही तत्त्व बताये हैं। (१) मूल प्रकृति, (२) पुरुष, (३) महत्तत्त्व, (४) अहंकार, (५) शब्द, (६) रूप, (७) रस, (८) गंध, (९) स्पर्श, (१०) श्रोत्र, (११) चक्षु (१२) रसना, (१३) घ्राण, (१४) त्वक्, (१५) वाक्, (१६) पाणि, (१७) पाद, (१८) गुद, (१९) शिश्न, (२०) मन, (२१) पृथ्वी, (२२) जल, (२३) तेज, (२४) वायु, (२५) आकाश, (२६) सत्व, (२७) रज, (२८) और तम। अब इनमें से किसी तत्त्व को कोई किसी अन्य तत्त्व में अन्तर्युक्त कर देते हैं, कोई बहुत से तत्त्वों को एक ही कर देते हैं। भगवान् इनमें एक पुरुषोत्तम या ईश्वर को और बढ़ाकर २६ मानते हैं। सांख्य वाले २५ ही तत्त्व मानते हैं। (८ तो प्रकृति-मूल प्रकृति, पाँच तन्मात्र, मन अहंकार और महत्तत्त्व और ये ८ हो गये। दस इन्द्रियाँ, पंच महाभूत और एक मन १६ विकार ८ और १६ मिलकर २४ हो गये। पच्चीसवाँ पुरुष) योगदर्शनकार इन पच्चीसों में एक ईश्वर को और बढ़ाकर २६ तत्त्व मानते हैं। जो लोग ईश्वर को इसमें सम्मिलित नहीं करते किन्तु प्रकृति के अतिरिक्त सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों को पृथक् गिनते हैं, उनकी दृष्टि में २५ सांख्य कथित और ३ गुण इस प्रकार अट्ठाईस हो जाते हैं।

कुछ लोग कहते हैं। भाई विस्तार क्यों करते हो, यथार्थ तत्व तो ७ ही हैं। पंच महाभूत, छटा जीव और सातवाँ परमात्मा। उनके मत में पंचमहाभूतों में ही उनकी ५ तन्मत्रायें १० वाह्य इन्द्रियाँ ४ अन्तः करण सब आ गये। कोई ईश्वर जीव दो को भिन्न न मानकर पंच-महाभूत और छटा परमात्मा कुल ६ ही तत्त्व मानते हैं। जो लोग चार ही तत्त्व मानते हैं उनका कथन है आत्मा से पृथ्वी, जल और तेज इनकी उत्पत्ति होती है। उसी से संसार की रचना होती है। वायु और आकाश दीखते नहीं इसलिये

इनका समावेश वे तीनों भूतों में ही कर लेते हैं।

कुछ लोग सत्रह ही तत्व मानते हैं वे कहते हैं आत्मा से मन और फिर उसी से पंचभूत, पांच तन्मात्रायें और पांच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार पांचतिया १५ और आत्मा तथा मन सब मिलाकर १७ हो जाते हैं। जो सोलह मानते हैं वे आत्मा में ही मनका समावेश कर लेते हैं। जो लोग १३ तत्व मानते हैं वे पंचभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय और मन, जीवात्मा तथा परमात्मा ऐसे १३ ही तत्व मानते हैं। जो लोग ग्यारह तत्व मानते हैं वे पंचभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय और एक आत्मा इस प्रकार ११ में ही सबका समावेश कर लेते हैं। जो लोग ६ ही तत्व मानते हैं वे पंचमहाभूत मन, बुद्धि और अहंकार इस प्रकार ६ में ही सबका निर्वाह कर लेते हैं। इस प्रकार कितने भी मानो प्रकृति और पुरुष के संयोग से यह संसार चल रहा है। गीताकार आठ ही को अपरा प्रकृति कह कर जीवात्मा को परा प्रकृति कहते हैं। अर्थात् वे जीव को भी प्रकृति में ही सम्मिलित करते हैं। अपरा प्रकृति तो निकृष्ट अथवा जड़ प्रकृति और जीव को चेतन्य प्रकृति।

अब सोचना यह है कि जीव क्या है? जीव कभी शरीर के बिना रह नहीं सकता। शरीर है जड़। इसलिये चैतन्यांश युक्त शरीर का ही नाम जीव है। शरीर दो प्रकार के होते हैं। एक सूक्ष्म शरीर दूसरा स्थूल शरीर स्थूल शरीर तो मरणधर्मा होता है। अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है। सूक्ष्म शरीर मरता नहीं। अतः जीवात्मा का वास सूक्ष्म शरीर में ही है। उसी शरीर के द्वारा वह दूसरी योनियों में जाया आया करता है। सूक्ष्म शरीर में करण, प्राण और चैतन्यांश ये तीन ही वस्तु रहती हैं। अर्थात् करण प्राणों के सहित चैतन्यांश स्थूल शरीर को छोड़कर अन्य शरीरों में जाता रहता है। पंचभूतों से निर्मित स्थूल शरीर ऐसा

ही जैसे सर्प की पुरानी केंचुली। पुरानी केंचुली का परित्याग करने पर सर्प मर नहीं जाता। उसे छोड़कर वह नई केंचली से जीता है। इसी प्रकार जीवात्मा स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर से अन्य योनियों में कालयापन करता है। स्थूल सूक्ष्म शरीर के अतिरिक्त एक कारण शरीर भी होता है। जिसके कारण जीव को नानायोनियों में विवश होकर जाना पड़ता है। उस कारण शरीर में धर्म, अधर्म कर्म हो होते हैं। उन्हें पुण्य और पाप कर्म कह लो। यह शरीर सूक्ष्म शरीर से भिन्न नहीं होता। क्योंकि केवल धर्म-अधर्म और पुण्य पाप में जीव रहेगा कैसे ? इसलिये कारण शरीर का समावेश सूक्ष्म शरीर में ही है। मृत्यु पांच भौतिक शरीर की ही होती हैं और वह भी केवल पृथ्वी पर ही। इसीलिये पृथ्वी को मर्त्यलोक कहते हैं। भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्यादि लोकों के जीवों के शरीर सूक्ष्म होते हैं, अतः वे मरते नहीं पुण्य अथवा पापों का भोग हो जाने पर वे ढकेल दिये जाते हैं। सूक्ष्म शरीर के अनेकों भेद हैं। एक स्वप्न शरीर है। स्वप्न में हमारा स्थूल शरीर शैया पर पड़ा रहता है, स्वप्न शरीर से हम सुख-दुख का स्वप्न में अनुभव करते हैं। एक यातना शरीर होता है, नरकादि में उसी शरीर से यातना भोगते हैं। यमदूत शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर करके यातना देते हैं, किन्तु वह शरीर मरता नहीं, कारण कि मरणधर्मा शरीर तो स्थूल ही है। एक अति वाहिक शरीर होता है। भूत प्रेतादिकों का शरीर भी सूक्ष्म ही होता है। ये सब शरीर सूक्ष्म शरीर के ही अन्तर्गत हैं।

पंचप्राण, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकार इन अठारह तत्व से बने शरीर को सूक्ष्म शरीर कहते हैं, जीव इसी शरीर से दूसरी योनियों में जाता है। बहुत से लोग इनमें

पंचतन्मात्राओं को और धर्माधर्म, पापपुण्य रूप कर्मों को भी सूक्ष्म शरीर में जोड़ देते हैं। पाप पुण्य ये अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं। बुद्धि में इनका समावेश कर लेते हैं। पंच प्राणों का समावेश इन्द्रियों में कर लेते हैं। करण शब्द इन्द्रिय वाचक है। बाहर के १० इन्द्रियाँ वाह्य करण और भीतर की ३ या ४ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्तःकरण अर्थात् भीतर की इन्द्रियाँ हैं। कुल लोग चित्त का समावेश मन में कर लेते हैं। बुद्धि का समावेश महत्तत्व में कर लेते है। कुछ भी क्यों न हो। जीवात्मा जब स्थूल शरीर को छोडकर अन्य शरीर में सूक्ष्म शरीर से जाता है, तो प्राण (पांच) करण (१३) और स्वयं चैतन्यांश जीव के सहित जाता है। भगवान् ने पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन तथा चैतन्यांश जीव इन सात को ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने को बताया है, इसका वर्णन भगवान् आगे पुरुषोत्तम योग में स्वयं करेंगे।

वैसे सांख्यवाले प्रकृति को पृथक् मानते है और पुरुष को पृथक् किन्तु यहाँ भगवान् ने विलक्षण बात कही। जीव को भी उन्होंने प्रकृति ही संज्ञा दे दी। प्रकृति स्त्री लिंग है। पुरुष पुलिंग है। जब भगवान् ने जीव को भी स्त्री लिंग ही कह दिया, तो रसिकाचार्यों का यह सिद्धान्त यथार्थ जँचता है, कि जीव मात्र स्त्री है, पुरुष तो एक मात्र श्यामसुन्दर श्रीनन्दनन्दन ही हैं। जीव मात्र उनके भोगने योग्य हैं, भोक्ता तो वे ही अकेले हैं।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब अर्जुन ने परा प्रकृति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! हे महाबाहो! मैंने अपनी अपरा प्रकृति का वर्णन तो तुम से कर ही दिया इससे भिन्न जो जीव रूपा मेरी परा प्रकृति है उसके सम्बन्ध में मैं तुमसे कहता हूँ, उसे तुम सावधानी के साथ सुनो।"

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! आपकी यह परा प्रकृति क्या कार्य करती है ? कहाँ रहती है ?

भगवान् ने हँसकर कहा—"अर्जुन मेरी इस जीवरूपा परा प्रकृति ने ही तो इस सम्पूर्ण संसार को धारण कर रखा है। संसार सर्वत्र जीवरूपा प्रकृति से ही तो व्याप्त है। जगत् में परमाणु भर ऐसा स्थान नहीं, जहाँ मेरी यह जीव रूपा प्रकृति न हो।

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! आप इस जगत् की रचना किसके द्वारा करते है ?

भगवान् ने कहा—"मै अपनी परा प्रकृति रूपी जीवरूपा प्रकृति से सम्पूर्ण भूतों की रचना करता हूँ। इन सबका कारण मेरी जीवरूपा प्रकृति ही है। तुम इस बात को निश्चय करके जानो। इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति तथा प्रलय का एक मात्र मैं ही उत्पत्ति का स्थान हूँ, इस बात को तुम ध्रुव सत्य मानो।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! आप इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण कैसे हैं ? और किस प्रकार यह सम्पूर्ण संसार आप में आबद्ध है ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् जो इस प्रश्न का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

दोऊ प्रकृति मिलाय जगत चर अचर बनाऊँ।
जड़ चेतन जब मिलहिं तबहिं सब नाच नचाऊँ॥
ये जड़ चेतन जीव प्रकृति करता नहिं होवैं।
करता सबको एक चराचर जामें सोवैं॥
जग को हौं ही प्रभव हूँ, मैं ही सब जग कूँ करूँ।
कारन सबको मूल मैं, अन्त समय हौं ही हरूँ॥

मैं ही इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हूँ

[४]

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

सुनहु धनञ्जय ! बात रहस की तुमहिँ बताऊँ।
मोतेँ पटतर नहीं परम हौं ही कहलाऊँ॥
भिन्न न मोतेँ कछू परम कारन नहिँ दूसर।
मोई तेँ जग होहि मिलै मोमें जब अवसर॥
भिन्न-भिन्न मनिका यथा, एक सूत्र-आबद्ध ज्यों।
हौं ही सबमें सूत्रवत, गुँथे चराचर जीव त्यों॥

* हे धनंजय ! मुझसे अतिरिक्त दूसरी वस्तु किञ्चित भी नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही गुँथा हुआ है, जैसे डोरा (सूत्र) में माला की मणियाँ गुँथी रहती हैं ॥७॥

हे कौन्तेय ! जल में रस मैं ही हूँ, और सूर्य, चन्द्रमा में मैं ही प्रभा हूँ। सर्ववेदों में प्रणव, आकाश में शब्द और पुरुषों में पौरुष भी मैं ही हूँ ॥८॥

सार वस्तु एक होती है, उसी का ही विस्तार हो जाने से नाम, रूपों के कारण भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं। जैसे बीज है। उस एक ही बीज में वृक्ष, पत्ता, शाखा, फल, फूल सभी सूक्ष्म रूप में छिपे हुए हैं। वट का कोई बीज है, देखने में वह अत्यन्त ही छोटा होता है, किन्तु उस छोटे बीज में एक ही नहीं अनन्त वृक्ष, उन अनन्त वृक्षों की अनन्त शाखायें, अनन्त पत्ते, तथा अनन्त फल छिपे हुए हैं। जब वह भूमि में अंकुरित होकर बढ़ने लगता है, तब बीज छिप जाता है, बीज ही वृक्ष रूप में परिणित हो जाता है, फिर बीज को खोजो तो नीचे न मिलेगा, किन्तु उस एक बीज के अनन्त बीज बन जायँगे उन अनन्त बीजों में से प्रत्येक बीज में अनन्त वृक्ष पैदा करने की शक्ति है। बीज में यद्यपि अंकुर, शाखा, पत्ते, फूल, फल सभी छिपे हैं, किन्तु दीखते नहीं।

एक पंडित जी थे, आकार में कुछ लम्बे थे, उनकी पहिली पत्नी का देहान्त हो गया। जैसे-तैसे साँठ-गाँठ जोड़-जाड़ कर एक गाँव में एक छोटी सी कन्या से उन्होंने दूसरा विवाह कर लिये। दूसरी व्याहता की अवस्था १२-१३ वर्ष की थी, पंडित जी की २५-३० वर्ष की। उस बालिका को पत्नी बनाकर उसे विदा कराके अपने गाँव की ओर चल दिये। मार्ग में एक नदी पड़ी। नदी में पानी कमर से ऊपर था, वेग भी था। पंडितजी तो पार हो जाते, वे तैरना भी जानते थे, किन्तु नई बहू कैसे पार हो। नौका वहाँ कोई थी नहीं। अन्त में पंडितजी ने अपनी नव विवाहिता वधू को कंधे पर बिठाकर नदी पार करने का निश्चय किया। बहू को कंधे पर चढ़ाकर नदी को पार कर ही रहे थे, कि वहाँ और भी बहुत से नदी पार करने वाले यात्री आ गये।

उन यात्रियों में से एक ने पूछा—"पंडितजी ! आपकी यह लड़की है क्या ?"

पंडितजी ने कहा—"लड़की लड़के पत्नी सब इसी के अन्तर्गत हैं।"

यात्री समझ गया, दूसरा नया विवाह करके लाये हैं, पत्नी है। इसी के उदर से लड़की, लड़के पैदा हो जायँगे। इसलिये सब कुछ यही है। पत्नी न होगी, तो न लड़के होंगे न लड़की। इसी प्रकार इस संसार के मूल कारण भगवान् हैं। उन्हीं से इस सम्पूर्ण चराचर की उत्पत्ति है। इस जगत् में से भगवान् को पृथक् कर दो, तो फिर जगत् का अस्तित्व ही न रह जायगा। आभूषणों का मूल कारण सुवर्ण है, सुवर्ण को आभूषणों से पृथक् कर दो तो आभूषणों का अस्तित्व ही न रहेगा। सुवर्ण और आभूषणों का ऐसा सम्बन्ध है, कि आभूषणों के नाम रूप तो सुवर्ण से पृथक् किये भी जा सकते है, किन्तु सुवर्ण को आभूषणों से किसी कारण से भी पृथक् नहीं किया जा सकता। आप चाहें कि आभूषण तो ज्यों के त्यों बने रहे, किन्तु उनमें से सुवर्णादि धातु-जिनसे आभूषण बने हैं उन्हें-उनसे निकाल ले जायँ, तो असम्भव है। कारण कि आभूषणों के बनने से पहिले सुवर्ण ही था। आभूषण बनने पर जब सुवर्ण को पुनः पूर्व रूप में लाना चाहोगे, तो आभूषण अपने आप विलीन हो जायँगे। नाम रूप तो भगवान् के ही आश्रय पर टिके हुए हैं। भगवान् न रहेंगे तो नाम रूप भी न रहेंगे।

माला का आधार सूत्र ही है, जब मणियों को एक सूत्र में, पिरो दिया जायगा, तभी उसकी माला संज्ञा होगी। माला बनने पर सूत्र दिखायी नहीं देता, वह छिपा ही रहता है, दिखायी मणियाँ ही देती हैं, किन्तु वह सूत्र हटा लिया जाय, तो माला का

भी अस्तित्व न रहेगा। क्योंकि मणियाँ तो उसी में पिरोयी हुई हैं। इसी प्रकार यह संसार भगवान् के ही द्वारा दिखायी दे रहा है। संसार में जितनी भी चेष्टायें दिखायी देती हैं। इन चेष्टाओं को प्रकृति क्या कर सकती है, प्रकृति तो स्वयं ही जड़ा है, जब तक चेतन्य सूत्रधार उसमें चेष्टा उत्पन्न न करेगा, तब तक वह कुछ कर ही नहीं सकती।

एक कठपुतली का नृत्य होता है। काष्ठ की बनी भाँति-भाँति की कठपुतलियाँ होती हैं। वे विविध प्रकार कलायें दिखाती हैं भाँति-भाँति के नृत्य करती हैं, लड़ती हैं झगड़ती हैं। उन्हें भीतर बैठा हुआ एक सूत्रधार नचाता रहता है, उनकी डोरियाँ सूत्र-धार के हाथ में रहती है। वह सूत्रधार अपने को सबके सम्मुख प्रकाशित नहीं करता। वह योगमाया के परदे में छिपा बैठा रहता है। पुतलियाँ नाचती हुई सबको प्रत्यक्ष दिखायी देती हैं। जो अज्ञ पुरुष हैं, वे तो यही समझते हैं, कि पुतलियाँ स्वयं ही नाच रही हैं, किन्तु जो इस रहस्य को जानते हैं, विशेषज्ञ हैं, वे सूत्रों के सहारे से सूत्रधार के समीप तक पहुँच जाते है, तब सूत्रधार हँसकर उन्हें अपने गले में लगा लेता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह जिज्ञासा की कि आप सम्पूर्ण संसार में कैसे व्याप्त हैं, तब भगवान् ने कहा—हे धनंजय! तुम पराजय से तो सदा दूर रहते हो। पराजय तो तुम्हारे पास भी नहीं फटक सकती। आपका तो एकमात्र धनंजय ही है, अतः मै तुम को संसार को विजय करने का भी एक गुप्त मन्त्र बताये देता हूँ। जिसे जानकर तुम निर्भय हो जाओगे, इस संसार में रहते हुए भी इसे देखते हुए भी इसके चक्कर में न फँसोगे।

तब अर्जुन ने कहा—"हाँ भगवन् ! उस मंत्र को मुझे अवश्य बता दें।"

भगवान् ने कहा—देखो, इस दृश्य प्रपञ्च में मेरे अतिरिक्त और कोई वस्तु परमार्थतः सत्य नहीं है। एक मात्र सत्य मैं ही हूँ।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! सम्पूर्ण जगत में आप ही हैं, तो आप हमें दिखायी तो देते नहीं। संसार में तो हमें ये ही घट-पट दिखायी देते हैं।"

भगवान् ने कहा—'अरे, भैया ! मै योग माया के परदे के भीतर छिपा बैठा रहता हूँ, इसी से दिखायी नहीं देता। वैसे मैं ही इस संसार को सुनियन्त्रित किये हुए हूँ। जैसे माला के मनिका ही दिखायी देते है, किन्तु वे मनिका जिसमें पुरोये हुए हैं। जो माला का आधार है, वह सूत्र दीखता तो नहीं। उस सूत को माला से पृथक् कर दो, तो फिर क्या माला का अस्तित्व रह जायगा ?"

अर्जुन ने कहा—"सूत्र के बिना तो माला का अस्तित्व सम्भव ही नही। आप इस प्रपञ्च रूप जगत की मणियों में सूत्र रूप से कैसे रहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"पहिले सृष्टि के आदि में जल ही था, जल को ही मुझ भगवान् ने सर्वप्रथम बनाया और उसी में रहने के कारण मेरा नाम नारायण है। उस जल में जो रस है, वह रस रूप में मैं ही हूँ। क्या तुम जल से रस को पृथक् कर सकते हो ?"

अर्जुन ने कहा—यह असम्भव है, यदि रस ही न रहेगा, तो उसकी जल संज्ञा हो ही नहीं सकती।

भगवान् ने कहा—हाँ यही बात है, जल में घुसते ही, सब प्रसन्न हो जाते हैं, हँसने लगते हैं। जल को स्पर्श करके, पीकर

सब आनन्दित होते हैं, क्योंकि रस सभी को प्रिय है। रस को पाकर सब आनन्दित होते हैं। वह रस मेरा ही स्वरूप है, मैं रस रूप हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"सूर्य और चन्द्रमा जो सब को प्रकाशित करते हैं, उनमें आप किस रूप से रहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"सूर्य चन्द्र प्रकाशित थोड़े ही करते हैं! उनमें जो प्रभा है, उस प्रभा के ही कारण सब प्रकाशित होते है। अतः सूर्य चन्द्र में जो प्रभा है, वह मेरा ही स्वरूप है। मैं इन दोनों में प्रभा रूप से रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—वेदों में आप किस रूप से रहते हैं।

भगवान् ने कहा—जैसे बीज का ही विस्तार बनकर वृक्ष हो जाता है, इसी प्रकार मैं ही वेद बन गया हूँ। सबसे पहिले एकाक्षर ही वेद था। प्रणव से ही वेदत्रयी का विकास हुआ है। आदि वेद एक मात्र प्रणव-ओंकार—ही है। अतः वेदों में जो प्रणव है, वह मेरा ही स्वरूप है।"

अर्जुन ने पूछा—"आकाश में प्रभो! आप किस रूप से रहते है?"

भगवान् ने कहा—आकाश का गुण शब्द है। आकाश के बिना शब्द हो ही नहीं सकता। अतः आकाश में मैं शब्द स्वरूप से रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"हम जैसे पुरुषों में आप किस रूप से रहते हैं।"

भगवान् ने कहा—इस शरीर रूप पुर में रहने से जीव को पुरुष कहते हैं। जिसमें पौरुष हो वह पुरुष है। अर्जुन! तुम में तो अत्यधिक पुरुषार्थ है, किन्तु तुम याद रखो, वह पुरुषार्थ तुम्हारा

नहीं मेरा है क्योंकि मनुष्यों में पुरुषत्व रूप से मैं ही रहता हूँ। मैं सभी में इसी प्रकार व्याप्त हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आप पृथ्वी में किस रूप से रहते हैं ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब इसका तथा अन्य प्रश्नों का उत्तर जो भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सब थल में जो नीर सोइ तिनि में रस जानौं।
होवै इष्ट प्रकाश सोइ रवि शशि तुम मानौं॥
ऋक, यजु साम अथर्व सबनि में प्रणव कहाऊँ।
श्रवन करो जो शब्द सतत आकाश लखाऊँ॥
जगत पदारथ सबनि में, रहूँ सदा बनि तत्व हौं।
हे कौन्तेय ! कहूँ कहा, पुरुषनि में पुरुषत्व हौं॥

सबके सार भगवान् ही हैं

[५]

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥
वीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ०, ९, १० श्लोक)

छप्पय

पृथिवी में हौं पुण्य गन्ध जग करूँ सुगन्धित ।
भूमि गन्ध कूँ सूँघि चराचर होवें प्रमुदित ॥
अग्नि माहिँ जो तेज जगत में देइ दिखाई ।
विश्व चराचर माँहि कहें जीवन जिहि भाई ॥
हौं ही जीवन तेज हूँ, तपसिनि में तपरूप हूँ ।
सब वस्तुनि को सार हौं, सब भूपनि को भूप हूँ ॥

---

* पृथ्वी मे पवित्र गन्ध और अग्नि मे तेज मैं ही हूँ । समस्त प्राणियों मे जीवन और तपस्वियों मे तप भी मैं ही हूँ ॥९॥

हे पार्थ ! समस्त प्राणियों का सनातन बीज तू मुझे ही जान । बुद्धिमानो की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं ही हूँ ॥१०॥

-चक्षु से हमें पदार्थ दिखायी देते है, उन पदार्थों में जो सार है, वह छिपा ही रहता है, वह बुद्धि आदि इन्द्रियों द्वारा अनुमानादि से सिद्ध होता है। हमें यह दृश्य जगत् तो दृष्टिगोचर हो रहा है, किन्तु इसके सार भूत जो भगवान् हैं वे दिखायी नहीं देते। उन्हें तो कोई सूक्ष्म दर्शी संत महात्मा ही अपनी सूक्ष्माति सूक्ष्म बुद्धि द्वारा साक्षात्कर सकते हैं। हमें अपनी स्थूल दृष्टि से-चर्मचक्षुओं द्वारा-तो यह दृश्य प्रपञ्च ही दिखायी दे रहा है। संख्या करने वाले महर्षियों ने संसार के समस्त पदार्थों का द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात में ही समावेश कर लिया है। द्रव्य तो हमें जो दिखायी देते हैं, वे ही हैं। सांख्य वाले ६ द्रव्य मानते है। पंच महाभूत, काल, दिशा, आत्मा और मन। इनमें दीखते हैं पृथ्वी, जल और तेज ही। शेष सब अनुमान से जाने जाते है।

गुण चौबीस बताये है रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख-दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। इनमें से रूप तो आँखों से दिखायी देता है, अन्य सब बुद्धि आदि इन्द्रियां द्वारा अनुभूत है। इसी प्रकार कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये पदार्थ भी चक्षु द्वारा दिखायी नहीं देते हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि भगवान् को देखने के लिये दृष्टि भी दिव्य चाहिये। दिव्य दृष्टि से ही भगवान् देखे जा सकते हैं और दिव्य दृष्टि अपने आप किसी साधन से नहीं मिलती। भगवान् ही कृपा करके दिव्य दृष्टि दें तो वे देखे जा सकते हैं। अर्जुन इतने दिन भगवान् के साथ रहे किन्तु उनके यथार्थ रूप के वे दर्शन न कर सके, जब भगवान्

ने स्वयं ही कृपा करके उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करदी तब उनके विराट् रूप के वे दर्शन कर सके।

हम को जल तो दिखायी देता है, किन्तु उसका रस स्वाद दिखायी नहीं देता। रस तभी जाना जायगा, जब उसका संयोग रसनेन्द्रिय के साथ हो जाय। जब जिह्वा पर जल रखा जाय तब हम अनुभव कर सकते हैं, कि यह जल खारा है या मीठा। सूर्य चन्द्रमा को तो हम देखते हैं, किन्तु उसकी प्रभा को हम देख नहीं सकते। प्रभा का हम अनुमान ही करते हैं। हम आकाश को नहीं देख सकते। जब शब्द होता है, तो श्रवणेन्द्रिय द्वारा आकाश के अस्तित्व को मानते हैं। पुरुष को तो हम चर्म चक्षुओं से देखते हैं। किन्तु उसके कार्यों को देखकर उसके पौरुष का अनुमान लगाते हैं। पौरुष दिखायी नहीं देता। पृथ्वी को तो हम देखते हैं, किन्तु गन्धवती पृथ्वी है, उस पृथ्वी की गन्ध का अनुमान घ्राणेन्द्रिय से लगाते हैं। अग्नि को तो हम देखते हैं, किन्तु इस अग्नि में तेज (उष्णत्व) कहाँ छिपा है इसका अनुमान हम त्वक् इन्द्रिय ही द्वारा करते हैं। हम प्राणियों को तो देखते हैं, किन्तु इनमें जीवन किस स्थान में छिपा है, यह हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। जब उन्हें श्वास प्रश्वास लेते अन्य कार्य करते देखते हैं, तब अनुमान लगाते हैं कि ये जीवनधारी हैं। इनमें जीवन है। हम तपस्वी को तो प्रत्यक्ष देखते हैं, किन्तु उसके भीतर तप कहाँ बैठा हुआ है, यह तप आँखों से दिखायी नहीं देता। जब वे असाधारण कार्य करते हैं, जैसे गर्मी में पंचाग्नि तापना, शीत में नंगे रहना आदि-आदि कार्य करते दिखायी देते हैं, तब हम अनुमान लगाते हैं, कि ये तपस्वी पुरुष होंगे। कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि जो गुण है उनका विशेष धर्म है, वही भगवान् का स्वरूप है। भगवान् स्थूल नहीं सूक्ष्माति सूक्ष्म

हैं। वैसे वे किसी बन्धन में किसी नियम में किसी विधि निषेध में बँधे हुए नहीं हैं। वे सर्व बन्धन मुक्त हैं। वे स्थूल कभी हो ही न सकते हों, उनमें स्थूल होने की सामर्थ्य ही न हो सो भी बात नहीं। वे स्थूल से स्थूल हो सकते हैं और सूक्ष्म से सूक्ष्म भी। महान् से महान् बन सकते हैं और छोटे से छोटे भी। वे पैर लगाकर भी चल सकते हैं और बिना पैरों के भी सबसे अधिक दौड़ सकते हैं। वे इस विश्व के बीज है। जैसे बीज ही वृक्ष के अणुपरमाणु में सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी बीज वृक्ष में पृथक् भी लग जाता है। इसी प्रकार इस जगत् में जैसे कपड़े में धागा ही धागा है। इसी प्रकार जगत् के ताने में भी और बाने में भी वे ही श्रीहरि विराजमान है। वस्त्र बन जाने पर कोई उसे तागा नही कहता। वस्त्र कहते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् जगत रूप में परिणत हो जाते हैं, तो उसे सब लोग संसार या जगत् ही कहते है। साधारण लोग कपड़े को तो देखते हैं, किन्तु यह नहीं जानते इसमें नाम और रूप को छोड़कर वस्त्र-पना कुछ भी नहीं है। विशुद्ध सूत ही सूत है। इसके लिये विचार चाहिये, विवेक चाहिये सूक्ष्म बुद्धि चाहिये। भगवान् वस्तुओं में किस रूप से छिपे बैठे रहते हैं, इसे उनके अतिरिक्त दूसरा कोई बता भी नहीं सकता। सबको वे बताते भी नही। जिसे वे प्रिय-रूप से वरणकर लेते हैं, उसी के सम्मुख विवरण प्रस्तुत करते है, उसी को अपना स्वरूप बताते हैं। उसी से कहते हैं, हम अमुक स्थान में अमुक नाम से निवास करते हैं। अर्जुन–नर–उनका चिर सखा है। सदा का साथी है उसी को भगवान् अपना परिचय दे रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—भगवन्!

आप पृथ्वी में किस रूप से रहते हैं ? तब भगवान् ने कहा—"पृथ्वी में मैं पवित्र गन्ध रूप से रहता हूँ ।"

अर्जुन ने कहा—गन्ध के साथ पुण्य-विकार शून्य-विशेषण क्यों लगाते है ?

भगवान् ने कहा—देखो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच भूतों में जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये तन्मात्रायें हैं । ये स्वाभाविक रूप से पुण्यमय हैं अपवित्रता तो अधर्म के संसर्ग से हो जाती है, वह स्वाभाविक नहीं । मैं स्वभावतः पावन हूँ, पुण्यमय हूँ, अतः पृथ्वी में पुण्यमय गन्ध के ही रूप में रहा करता हूँ ।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! अग्नि में आप किस रूप से निवास करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अग्नि में मै तेज रूप से रहता हूँ । अग्नि अपने तेज से सबको जलाने की सामर्थ्य रखती है । वह अंधकार को नाश करके प्रकाश फैला देती है अपने तेज द्वारा ही । तेज भी चार प्रकार का होता है । एक तो भौम तेज जैसे अग्नि में । दूसरा जल में भी तेज होता है । जल के सहारे-सहारे कितने भी अन्धकार में चले जाओ तुम मार्ग न भूलोगे । आकाश में जो बिजली चमकती है यह जल का ही तेज है । समुद्र में वही अग्नि बड़वानल रूप में रहती है जल से विद्युत पैदा करके उससे नाना कार्य किये जाते हैं । तीसरा पेट में रहने वाली जठराग्नि का भी तेज है, वह खाये हुए सभी पदार्थों को पचा जाती है । चौथा तेज सुवर्ण आदि खान से उत्पन्न होने वाली धातुओं में होता है । इसलिये अग्नि में जो उष्ण स्पर्श सहित शुक्ल प्रकाशमय तेज है वह मेरा ही स्वरूप है । समुद्र में वड़वा नल रूप में तथा आकाश में विद्युत के रूप में जो दिव्य जलीय तेज है वह मेरा

ही रूप है। प्राणियों के उदरों में जठराग्नि रूप से प्राण अपान द्वारा खाये हुए अन्न को पचाने वाला वैश्वानर का तेज है। वह मेरा ही स्वरूप है। और सुवर्णादि धातुओं में जो चमक रूप 'आकरज' तेज है वह भी मेरी ही चमक है। मैं सब में तेज रूप से रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा – सब चराचर प्राणियों में आप किस रूप से रहते हैं?

भगवान् ने कहा—समस्त चराचर प्राणियों में सभी भूतों में-मैं जीवन रूप से रहता हूँ।

अर्जुन ने कहा—"पाषाणादि जो जड़ हैं, जो निर्जीव हैं, उनमें आप नहीं रहते हैं क्या?"

भगवान् ने कहा—"निर्जीव तो कोई है ही नहीं। पाषाण आदि में भी जीव है। उनमें भी मैं जीवन रूप से ही रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर पाषाणादि को जड़ क्यों कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"अपेक्षाकृत जड़ हैं। जैसे किसी पंडित के ५ पुत्र हैं। ४ तो विद्वान है एक पढ़ता नहीं तो पंडित जी कह देते हैं। चार लड़के तो ठीक हैं। ये पाचवां सर्वथा जड़ है। तात्पर्य इतना ही कि इसमें बुद्धि का विकास अन्यों की अपेक्षा कम है। जड़त्व अपेक्षाकृत है। वास्तव में तो चैतन्य से उत्पन्न हुए इस सम्पूर्ण संसार के सभी पदार्थ चैतन्य ही हैं। जिसमें जीवन नहीं ऐसा कोई पदार्थ ही नही। जिसमें बुद्धि का प्रकाश अधिक हो गया, वह अधिक चैतन्य कहा गया। जिसमें बुद्धि का प्रकाश न्यून से न्यून है, उसको जड़ संज्ञा हो गयी। जैसे एक कांच का बना घर है। उसमें बैठकर काम करें तो भीतर वाले लोगों को बाहर के लोग भी देख सकते हैं। दूसरा मकान ईंट चूने से बना है, उसके भीतर काम करने वालों को बाहर के

लोग नहीं देख सकते। यद्यपि दोनों ही भवन पार्थिव पदार्थों से बने हैं। कांच भी पृथ्वी है, किन्तु कांच में तेज अधिक है, इसलिये वह श्रेष्ठ पार्थिव पदार्थ है। उसमें पारदर्शीपन है। ईंट चूना में तेज ग्रहण करने की शक्ति बहुत ही न्यून है अतः वह उसकी अपेक्षा कनिष्ट है। इसी प्रकार जड़ता चैतन्यता बुद्धि के प्रकाश के कारण है। जिसमें जितनी ही अधिक बुद्धि की विमलता निर्मलता तथा प्रकाश है वह उतना ही अधिक चैतन्य है। इसलिये समस्त प्राणियों में जीवन मैं ही हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"तपस्वियों में आप किस रूप से रहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"पुरुष तो सभी एक से ही होते हैं। किसी गुण के विशेष होने से उनमें विशेषता आ जाती है। जैसे विद्या अधिक हुई तो उसे विद्वान् कहते हैं। धन अधिक हुआ तो उसे धनवान् कहते हैं। ज्ञान अधिक हुआ तो ज्ञानवान् कहते हैं। इसी प्रकार जिनमें तप अधिक हुआ वे तपस्वी कहाते हैं। जिस तप रूपी गुण के कारण वे तपस्वी कहलाते हैं, वह तप मेरा ही रूप है। मैं तपस्वियों में तप रूप से रहता हूँ। मैं सब भूतों के उनके उन-उन गुणों द्वारा अनुस्यूत हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आम का वृक्ष का आम के बीज द्वारा अनुस्यूत है। पुत्र पिता के वीर्य द्वारा अनुस्यूत है। प्राणि-मात्र अपने-अपने बीजों द्वारा एकीभूत हो रहे हैं। आप कहते हैं सब मुझमें अनुस्यूत हैं इसे बताइये वे अपने बीजों में अनुस्यूत हैं या आप में ?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—अरे, बाबा ! सब का सनातन बीज तो मैं ही हूँ। इस संसार रूपी वृक्ष का आदि बीज तुम मुझे ही जानो। हे पार्थ ! जिस बुद्धि तत्त्व द्वारा जड़

चेतन का भेद-भाव होता है, जिस बुद्धि द्वारा लोग बुद्धिमान कहलाते हैं, उन बुद्धिमानों की बुद्धि भी मुझे ही जानो।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! तेजस्वियों में आप किस रूप से रहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—तुम्हें कहाँ तक गिनाऊँ ? तेजस्वियों में जो तेज है, वह तेज मेरा ही रूप है। मैं ही तेज रूप में उनके शरीर में निवास करता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—बलवानों में आप किस रूप से रहते हैं ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् जो इस विषय का उपसंहार करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

होवें जितने जीव जगत में अंडज पिंडज।
चर होवें वा अचर होहिँ उद्भिज वा स्वेदज॥
सब को हौं ही बीज सनातन नित अविनाशी।
होहि न मेरो नाश करम फल माहिँ उदासी॥
बुद्धिमान जितने पुरुष, तिनि सब में हौं बुद्धि हूँ।
सब तेजस्विनि तेज हौं, अति शुद्धनि में शुद्ध हूँ॥

समस्त त्रिगुणात्म भाव भगवान् से ही हैं

[६]

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥*
(श्रीभ० गी० ७ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

बलवाननि में कहें मोइ बल भरतरिषभ मुनि ।
जिहि में नहिं आसक्ति कामना रहित कह्यो मुनि ॥
जितनी हैं सामर्थ्य सकल, समरथ पुरुषनि में ।
सबमें मोकूँ जानि लगाओ मन मम मन में ॥
काम सबनि व्याकुल करे, धरम, अधर्म स्वरूप है ।
होहि धरम अनुकूल तो, वह मेरो ई रूप है ॥

---

* हे भरतवंशावतंस ! मैं ही कामराग से वर्जित बलवानों का बल हूँ, प्राणियों मे धर्म से अविरुद्ध काम भी मैं ही हूँ ॥११॥

जो भी सत्त्वगुण से, रजोगुण से तथा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न हुआ जान। उनमे मैं तो नहीं हूँ परन्तु मुझमें वे ही हैं ॥१२॥

भगवान् तो सर्वत्र हैं, अणु परमाणु कोई भी तिलभर भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ भगवान् न हों। उनके बिना किसी पदार्थ की सत्ता ही नहीं। काल स्वरूप वे ही प्रभु हैं। जगदुत्पत्ति के समय वे ही संकल्प, इच्छा या काम स्वरूप हो जाते हैं। पालन के समय वे ही रक्षक पालक तथा जीवनदाता बन जाते हैं। संहार के समय वे ही संहर्ता रुद्र तथा काल बन जाते है। जैसे मकड़ी अपने उदर से ही सूत्र निकाल कर जाला बनाती है। जब तक इच्छा होती है उसमें क्रीड़ा करती रहती है, जब इच्छा होती है उसे निगल जाती है। जाला उस मकड़ी से भिन्न नहीं मकड़ी में जाला है, किन्तु जाला से मकड़ी नहीं। मकड़ी जाला को बना सकती है, वह जाले का तन्तु यद्यपि मकड़ी से भिन्न नहीं उसी के अंग से–उदर से–उत्पन्न हुआ है, किन्तु उदर से उत्पन्न होने पर जाला मकड़ी की रचना नहीं कर सकता। मकड़ी ही जब चाहे जाला बना सकती है, जब चाहे उसे निगल सकती है।

जल से परिपूर्ण अगम अगाध समुद्र है। कोई बता नहीं सकता समुद्र में कितना जल है। उस जल से तरंगें उत्पन्न होती हैं। तरंगें समुद्र की ही हैं। समुद्र का जल न हो तो तरंगें भी न होंगी। जब, समुद्र शान्त निस्तरंग स्तब्ध हो जाता है, तो उसमें तरंग भी नहीं दृष्टिगोचर होतीं, किन्तु जब चाहें समुद्र में तरंग उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिये समुद्र में तो तरंग हैं। किन्तु तरंग में समुद्र नहीं। सब कोई समुद्र की तरंगें तो कहते हैं, किन्तु यह कोई नहीं कहता कि तरंग में समुद्र है। इसी प्रकार संसार के समस्त भाव भगवान् से ही होते हैं। भगवान् में तो वे भाव हैं, किन्तु भावों में भगवान् हों, यह बात नहीं है।

भगवान् सब पदार्थों में विशुद्ध सार रूप में बैठे रहते हैं गुण

रूप में, विभूति रूप में भगवान् पदार्थों में जाने जाते हैं। जैसे कामदेव है। वह भी एक देव ही है यज्ञयागों में कामदेव की पूजा होती है। सभी प्राणियों में कामदेव रहते हैं, किन्तु वह काम विशुद्ध हो, धर्म का विरोधी न हो। धर्मानुकूल काम में ही भगवान् का निवास है। अधर्म युक्त काम में वे नहीं रहते। यह बात उपासना के निमित्त कही गई है। भगवान् की विभूतियों की उपासना करे, तो उनके विशुद्ध रूप की ही उपासना करे। अशुद्ध रूप की साधक उपासना करेगा, तो वह साधन से च्युत होकर पतित हो जायगा। इसलिये साधना सदा सर्वदा शुद्ध रूप की—धार्मिक रूप की ही की जाती है। यों तत्त्व से देखो, तो भगवान् तो धर्म-अधर्म सभी में व्याप्त हैं। धर्म उनके वक्षःस्थल से उत्पन्न हुआ है, अधर्म पृष्ठभाग से। धर्म-अधर्म दोनों ही भगवान् से उत्पन्न होने के कारण दोनों सगे भाई ही हैं। भगवान् ही सबकी उत्पत्ति के एकमात्र स्थान हैं। भगवान् के अतिरिक्त कुछ भी अणुमात्र भी नहीं है। भगवान् एक रूप से तो भोग बन जाते हैं, दूसरे रूप से भोक्ता बनकर उसका उपभोग करते हैं। एक रूप से तो हवि बन जाते हैं, दूसरे रूप से देवता बनकर उस यज्ञ भाग को स्वीकार करते हैं। भोग और भोक्ता ही हों सो बात नहीं। अर्पण, हवि, अग्नि, होता, ऋत्विज्, पुरोहित, यजमान यजमानी सब वे ही हैं, क्योंकि उनसे अतिरिक्त कुछ है हीं नहीं। फिर भी साधक उनकी उत्तम दिव्य विभूतियों की ही उपासना करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—कि आप बलवानों में किस रूप में रहते हैं? तब भगवान् ने कहा—बलवानों में मैं कामराग विवर्जित बल के रूप से रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—कामराग विवर्जित, विशेषण क्यों लगाया महाराज?

भगवान् ने कहा—काम कहते हैं कामना को–स्पृहा या वासना–को और राग कहते हैं रंग को क्रोध को भी। जिस बल में परपीड़न की भावना है, स्वार्थ सिद्धि या विषयोपभोग की स्पृहा है तथा अत्यन्त अनुरक्ति के कारण क्रोध या रोष है, वह बल तो खलों का बल है। विद्या, धन और बल ये विशुद्ध होते हैं तभी मेरी विभूति के रूप ज्ञान, श्री और पौरुष के रूप में होते है। इसलिये साधुपुरुष बलवानों का जो कामराग से वर्जित बल है, वही मेरा रूप है।

अर्जुन ने पूछा—"पहिले आप चराचर में जीवन को अपना रूप बता चुके है अब मैं यह पूछता हूँ जीवनधारी भूतों में आप किस रूप से रहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जिसके हृदय में काम न हो, किन्तु काम दो प्रकार का होता है, एक धर्म विरुद्ध दूसरा धर्म अविरुद्ध। सो मैं धर्म से अविरुद्ध काम रूप से प्राणियों के हृदयों में रहता हूँ। हे भरतर्षभ! तुम अब अधिक प्रश्न मत करो अधिक बात बढ़ाने से कोई प्रयोजन नहीं। संसार में जितने भाव है, सब मुझसे ही हैं। मैं ही उन सबका जनक हूँ।"

अर्जुन ने कहा—पहिले तो आप कामराग विवर्जित, धर्मा-विरुद्ध, पवित्र आदि विशेषण लगाकर बताते थे अब आप कहते हैं, संसार के सभी भाव मुझसे ही है, यह क्या बात है?

भगवान् ने कहा—प्रकृति भी मेरी ही है, मेरी ही इच्छा से वह जगत् की सृष्टि करती है। त्रिगुणों की उत्पत्ति भी मेरी ही इच्छा से होती है। जिससे शम, दम, तप ज्ञान आदि वृत्तियाँ होती है वह सत्त्वगुण मुझसे ही होता है। जिस रजोगुण अहं-कार, दर्प हर्षादि भाव उत्पन्न होते हैं, उस रजोगुण का जनक

भी मैं ही हूँ। जिस तमोगुण से शोक मोहादि वृत्तियाँ उत्पन्न होती है, वह भी मुझसे पृथक् नहीं। कहने का भाव यही कि जो भी भाव हैं, फिर वे चाहें सात्विक हों, राजस् हों अथवा तामस ही क्यों न हों उन सबकी उत्पत्ति तुम मुझसे ही जानो। वे सब मेरे ही अन्तर्गत है। सबके सब मुझमें ही हैं।

अर्जुन ने पूछा—जब सब आप में ही हैं, आप भी उनके भीतर बैठे रहते होंगे ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन कैसा ऊट पटांग प्रश्न कर रहे हो ? अरे, समुद्र में तरग होती हैं, किन्तु तरगों में तो समुद्र नहीं बैठा रहता। मकड़ी से जाला उत्पन्न होता, किन्तु जाला तो मकड़ी नहीं है। इसलिये वे सात्विक, राजस् और तामस् भाव मुझमें तो हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! यह तो आपने विचित्र बात कह दी। हिम से उत्पन्न जल उसी के गुण वाला होगा। आप तो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त निर्लेप और निर्द्वन्द्व है। आप से जो यह जगत् होगा, तो आपके ही गुण वाला होना चाहिये। फिर ये जीव माया के चक्कर में पड़कर, नाना क्लेशों को क्यों सहते रहते हैं ? सबकी उत्पत्ति आप से ही हैं, तो जीव को मोह क्यों होता है ? चौरासी के चक्कर में क्यों भटकता रहता है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जितने सात्त्विक भाव होहिँ मोईं तें प्रकटित।
राजस जितने रजोगुनी मोईं तें विकसित॥
कह्यो तमोगुन अधम किन्तु मोईं तें होवैं।
मेरे बिनु नहिँ होहिँ सबहिँ मेरो मुख जोवैं॥
किन्तु वास्तविक बात यह, रहूँ न मैं इनमें कबहुँ।
वे मोमें होवैं नहीं, मेरे ही भासैं तबहुँ॥

प्राणी प्रभु की दुष्पार माया का पार उनकी शरण लेने से ही पा सकता है

[७]

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

कोई मोहित होहिँ सात्विक भावनि माहीं ।
कोई राजस माहिँ तमोगुण कामनि माहीं ॥
तीनिहु गुनके भाव विश्व में व्याप्त सकल हैं ।
इनिमें फँसि कें जीव कालवश सब मोहित हैं ॥
यह तिरगुन मोहित जगत, गुन कामनि मानत सही ।
तीनि गुनिन तैं परे जो, मो अव्यय जानत नहीं ॥

---

* यह समस्त जगत् तीनों प्रकार के गुणों के कार्यरूप भाव से मोहित हो रहा है, इन तीनो गुणों से परे मुझ अविनाशी को लोग नहीं जानते हैं ।।१३।।

इसलिये लोग नहीं जानते कि मेरी यह गुणमयी दैवीमाया बड़ी दुस्तर है। जो लोग मेरा ही निरन्तर भजन करते रहते हैं, वे ही इस माया को तर जाते हैं ॥१४॥

भगवान् ने यह तीनों गुन वाली तीन लर की रस्सी ऐसी सुदृढ़ बना दी है, कि इस रस्सी के बन्धन को तोडकर कोई विरला ही बन्धन मुक्त-स्वतन्त्र-हो सकता है। संसार रूपी समुद्र को पार कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं था, यदि बीच में यह देवी माया अन्तराय न हो जाती तो। इस माया के बीच में आ जाने से संसार रूपी समुद्र को पार करना कठिन हो गया है। माया का अपना कोई रूप नहीं। यह बहुरूप धारण करने वाली है। जो दिखायी तो दे किन्तु वह उसका यथार्थ रूप न हो वहां माया है। लोक में नाना रूप बनाकर बहुरूपिया आते हैं। वे अनेक रूप रखकर मनुष्यों को रिझाते हैं उनसे पारतोषिक पाते हैं। वे स्त्री नहीं हैं, फिर भी सर्वथा स्त्री का-सा वेष बनाकर आपको भ्रम में डाल देंगे। वे राजकर्मचारी नहीं हैं, किन्तु राजकर्मचारी का ऐसा वेष बनाकर आवेंगे, कि आप सहसा पहिचान नहीं सकेंगे, कि यह राजकर्मचारी नहीं है। इसी प्रकार यह ठगिनी माया विविध वेश बनाकर जीवों को संसार चक्र में भ्रमाती रहती है। प्राणी इसका यथार्थ रू। न समझकर इसके चक्कर में आ जाते हैं और चौरासी लाख योनियों में घूमते रहते हैं।

पुराणों में माया के सम्बन्ध के अनेकों आख्यान हैं। उन आख्यानों को पढ़ने से यही लगता है, कि माया ही सभी को घुमा रही है। सात्विकी प्रकृति वालों को सात्विक भाव से घुमाती है राजसी प्रकृति वालों को राजस भाव से और तामसी प्रकृति वालों को तमोगुण के भावों से घुमा रही है। जो इस माया के चक्कर में न पड़कर इसके स्वामी महेश या मायेश की शरण में चला जाता है वही संसार समुद्र से पार हो जाता है।

एक बार मार्कंडेयजी के तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवान् नर नारायण ने उन्हें दर्शन दिया और प्रसन्न होकर उनसे वर

माँगने को कहा। मुनि ने कहा—"प्रभो! मै आपकी माया का दर्शन करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है तुम्हें माया का दर्शन हो जायगा।" यह कहकर भगवान् तो अन्तर्धान हो गये। मुनिवर माया का ही चिंतन करते हुए अपनी कुटिया पर बैठे रहे। उसी समय आकाश में बड़ी गड़गड़ान-तड़तड़ान हुई। बादल घिर आये। महान् वर्षा होने लगी। समुद्र उमड़ आया। मुनि घबड़ाये, कुटी में घुस गये। पानी ने पीछा नहीं छोड़ा कुटिया, पहाड़, पेड तथा सभी वस्तुएँ जल मग्न हो गयीं। ऋषिवर जल में तैरने लगे। जल में कभी मछली, कभी मगर आ जाते। सातों समुद्र एक हो गये। ऋषि तैरते-तैरते कहाँ चले गये कुछ पता नहीं। लाखों वर्षों तक जल में तैरते रहे। लाखों करोड़ों वर्ष के पश्चात् प्रयागराज में आ गये। प्रलय के समय चराचर विश्व की सभी वस्तुएँ तो जल मग्न हो जाती हैं, किन्तु प्रयागराज का अक्षयवट नहीं डूबता। क्योंकि वह तो अक्षय—अर्थात् नाश रहित ही—ठहरा। उस वृक्ष को देखकर मुनि के प्राणों में प्राण आये। वृक्ष के पत्ते हरे कोमल थे, लाल-लाल फल भी लग रहे थे। मुनि को भूख भी लग रही थी। उस पेड़ की ओर बढ़े तो एक पत्ता दोने के आकार का बना था। उस वट के पत्र के पुट पर एक अत्यन्त ही मनोहर शिशु क्रीड़ाकर रहा था। अपने पैर के अँगूठे को हाथ से पकड़कर मुख में देकर चुसुर-चुसुर चूस रहा था। उसे देखते ही मुनि की समस्त व्यथा भूख प्यास मिट गयी। यह इस प्रलय जल में शिशु कहाँ से आ गया। इससे पूछें तो सही यह सोचकर वे ज्यों ही आगे सरके त्यों ही उसकी स्वाँस के साथ उसके पेट के भीतर घुस गये। पेट में क्या देखते हैं, विश्वब्रह्मांड की सभी वस्तुएं हैं। हिमालय पर्वत तथा उनकी कुटी भी है।

देखकर चकित रह गये। बच्चे ने फिर साँस छोड़ी कि तुरन्त फिर बाहर अगाध अपार जल में आ गये। फिर प्रश्वास के साथ भीतर घुस गये। फिर वही दृश्य। ऐसे अनेकों बार भीतर बाहर गये। अबके प्रेम में विह्वल होकर शिशु को आलिंगन करने दौड़े, त्योंही वह शिशु, वह वृक्ष, वह प्रलय का जल सब विलुप्त हो गया। मुनि ने आँख फाड़कर देखा न जल, न वट, और न वह शिशु। सब खेल समाप्त। मुनि समझ गये बिना प्रलयकाल भी जो यह प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया, यही भगवान् की माया है। लाखों करोड़ों वर्ष जल मे तैरते बीता था, आँख खोलकर देखा तो आधी घड़ी भी नहीं हुई। यही मायेश की माया है।

ऐसा ही एक प्रसंग नारदजी के सम्बन्ध में आता है। नारदजी ने भी भगवान् से उनकी माया देखने की इच्छा की। भगवान् साधु वेष से उनकी कुटी पर आये और नारदजी को साथ लेकर गंगातट पर आये। साधुजी तीर पर खड़े रहे। नारदजी ने कहा—"मैं स्नान करके मध्यान्ह सन्ध्या कर लूँ।"

साधु ने कहा—"मैं यहाँ किनारे ही बैठा हूँ आप स्नान सन्ध्या से निवृत्त हो लें।"

नारदजी गंगाजी के जल में उतरे। अघमर्षण मन्त्र को पानी में डुबकी लगाकर जल में डूबे ही डूबे तीन बार पढ़ना पड़ता है। नारदजी तीन बार अघमर्षण मन्त्र जपने को ज्यों ही जल में डूबे त्यों ही वे अपने को देखते हैं मैं तो एक अत्यन्त ही सुन्दरी षोडशी नारी बन गया हूँ। स्त्रियों के समस्त चिन्ह उनके शरीर में उभर आये। भीतर ही भीतर उन्हें यह ज्ञान तो है, कि मैं नारद हूँ किन्तु इतनी सुन्दरी स्त्री का शरीर कैसे हो गया, कुछ निर्णय ही न कर सके। नदी तट पर खड़े हुए चारों ओर चकित-

चकित दृष्टि से देख ही रहे थे, कि घोड़े पर चढ़कर वहां एक राजकुमार आ गया। एकान्त में अनुपम सुन्दरी श्यामा नारी को देख कर राजकुमार उसे अपने साथ घोड़े पर चढ़ाकर घर ले गये। उसके साथ विवाह कर लिया। १२ लड़के १२ लड़कियाँ हो गयी। वे सब लड़की लड़के बड़े हो गये, सब लड़कियों के और लड़कों के विवाह हो गये। उन सबके भी बहुत से पुत्र पौत्र हो गये। अब रानी बने नारदजी बूढ़ी डुकरिया हो गये। मर गयीं। बेटा, नाती, पन्ती, धीय, धेवते सब मिलकर उन्हें नदी तट पर ले गये। उनको चिता में रखकर फूंक दिया। घू-घू करके चिता जलने लगी। तभी नारदजी तीन बार अघमर्षण मन्त्र पढ़कर पानी से ऊपर उछले। उन्हें स्मरण था, मैं स्त्री हो गया था, मेरे नाती पन्ती संतो हो गये थे। मैं मर गयी थीं, मुझे जलाने लोग लाये थे। अब मैं जल से बाहर कैसे आ गयी। सामने देखते हैं सैकड़ों आदमी नदी तट पर खड़े हैं, एक चिता जल रही है, उसमें एक शव जल रहा है। अपने पुत्र पौत्रों को भी वे पहिचान गये। इस दृश्य को देखकर वे परम विस्मित हुए तभी किनारे पर बैठे साधु बोले—मुनिवर! क्या आश्चर्य चकित होकर देख रहे हो, प्रतीत होता है, कोई बहु पुत्र पौत्रां वाली भाग्यशालिनी रानी मर गयी है, उसके परिवार के लोग उसे जला रहे हैं। यह तो संसार की माया है।

अब नारदजी को स्मरण हुआ, मैंने भगवान् से माया दर्शन की प्रार्थना की थी, हों न हों ये भगवान् ही हैं। यही सोचकर वे दौड़कर मुनि के चरणों में पड़ गये। तब भगवान् ने अपने साक्षात् चतुर्भुज रूप से उन्हें दर्शन दिये और कहा—"मुनिवर! यही मेरी माया है, जो मेरी शरण में आ जाता है, उसका मेरी माया कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती।" इस प्रकार माया के

सम्बन्ध की अनेक कथायें हैं। विस्तार भय से हम यहाँ उनका उल्लेख नहीं करते।

भगवान् की मोहिनी माया के तीन रूप हैं। एक तो मोहन मोहिनी, दूसरा जगन्मोहिनी और तीसरा पुरुषमोहिनी। मोहन मोहिनी माया तो वह है, जो भगवान् को भी मोहकर उन्हें अपने वश में करले। स्ववशी भगवान् भी अपनी उस मोहन मोहिनी माया के वशीभूत होकर उसके संकेत पर नाचते रहते हैं। उस मोहन मोहिनी माया का ही नाम आह्लादिनी शक्ति है। भगवान् के ही आह्लाद को लेकर वह शक्ति भगवान् को अपने वश में कर लेती है और उन्हें अपने साथ नाच नचाने को रास रचाने को विवश करती है। भगवान् उसके वशीभूत होकर नृत्य करते हैं, बाँसुरी बजाते हैं, उसे रिझाते हैं और उसे रिझाकर परम आह्लादित होते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है, कि भगवान् क्या आह्लाद से शून्य हैं, जो आह्लाद पाने के लिये आह्लादिनी शक्ति के वशीभूत होकर उसके संकेत से नाचते हैं, गाते हैं उसे रिझाते हैं। क्या भगवान् आह्लाद रहित हैं।

भगवान् आह्लाद रहित नहीं हैं, किन्तु रमण एकाकी नहीं होता। 'एकाकी न रमते' रमण के लिये युगल चाहिये, युग्म, मिथुन जोड़ा दो चाहिये। सो भगवान् अपने आह्लाद से स्वयं रसानुभूति नहीं कर सकते। रमण के लिये रसवृद्धि के लिये वे ही एक से बहुत हो जाते हैं। "एकोऽहं बहुष्यामः" वे ही प्रिय प्रियतमा बन जाते हैं। अपने ही बिम्बप्रतिबिम्बः के रूप में दो बनकर क्रीड़ा करते हैं। वियोग में विह्वल होते हैं। आह्लाद की याचना करते हैं, तब आह्लादिनी शक्ति उन्हें आह्लाद प्रदान करती है।

आप कहोगे जो आह्लाद का जनक है वह दूसरों से याचना क्यों करेगा ? अजी, यही तो क्रीडा है, यही तो लीला है यही तो मायेश की माया है। जैसे हिम-वरफ-की एक सुंदरी मूर्ति बना दो। उसके हाथ, पैर, आँख, नाक सम्पूर्ण अंग हिम के ही हैं वह सजीव होकर कहे—मुझे बड़ी प्यास लगी है, शीतल से शीतल जल मुझे पिला दो, अब बताइये वरफ की मूर्ति को शीतल से से शीतल जल कहाँ से पिलाया जा सकता है। मिश्री की एक मूर्ति बनाई। वह सजीव होकर कहे-"मुझे मीठो से मीठी वस्तु खिलादो।" कहाँ से मीठा लाओगे। इसी प्रकार आह्लाद के जनक मायेश भी आह्लाद की याचना करते हैं। उन्हें आह्लाद का दान उन्हीं की शक्ति उन्हीं के आह्लाद को देती है इस बात को इस कथा से समझिये।

श्रीकृष्ण नित्य प्रति गैया चराने वृन्दावन में जाया करते थे। माता उन्हें प्रातः स्नानादि कराकर काजर लगाकर, शृङ्गार करके मुकुट पहिना कर, लकुटी देकर, कलेवा कराके, आरती उतार कर प्रेम के साथ गौओं के पीछे विदा करती थी। कुछ दूर तक वे श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे भी जातीं, जब श्रीकृष्ण वन में दृष्टि से ओझल हो जाते तब लौट आतीं और सायंकाल उनके आने की बाट जोहती रहती।

एक दिन माता के हृदय में अपने मुनमुना से श्यामसुंदर के प्रति अत्यन्त ही आह्लाद-हेज-उत्पन्न हुआ। माँ ने सोचा-आज श्यामसुन्दर को खूब सजाऊँगी। उन्होने उबटन लगाकर सुगंधित जल से मल-मल कर श्यामसुंदर को खूब स्नान कराया। शरीर में अंगराग लगाया। केशर कस्तूरी गोरोचन का तिलक खोर लगाया। मोटा-मोटा काजर लगाया। भाल के कोने पर पैर के तलुओं में दिठौना लगाया। अतलस की गोटादार अँगरखी पहि-

नाई पीताम्बर पहिनाया, अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण पहिना कर सजाया। केशर मिश्री मिला हुआ अधौटा दूध पिलाया। फिर ध्यान आया वन में जायगा कोई भूत-प्रेत बाधा न दे, इसलिये थोड़ी सी राख उन्हें चटाई। सुंदर से सुन्दर हीरा मोतियों से जटित मोर मुकुट पहिनाया। रंग विरंगी लकुटी उनके हाथ में दी। कमर में बंधे दुपट्टा में मुरली, नरसिहा खोंस दिया। मुख में सुगन्धित पान देकर आरती करके उन्हें कसकर छाती से चिपटा कर मुख चूमकर विदा किया।

आज श्यामसुंदर की प्रसन्नता का क्या ठिकाना था, हृदय में से आह्लाद उफना पडता था, उनके रोम-रोम से आह्लाद फूट रहा था। जैसे किसी कटोरे में ऊपर तक दूध भर दो, तो तनिक सी ठेस लगते ही वह बाहर छलकने लगता है, इसी प्रकार श्रीकृष्ण का आह्लाद आज छल-छल करके छलक रहा था। वह छोटे कृष्ण के छोटे हृदय में समाता ही नहीं था। श्रीकृष्ण उत्साह में भरे यमुना तट की ओर दौड़े जा रहे थे। माता विदा करके लौट गयी थी। श्रीकृष्ण उमंग में भरे आह्लाद को छलकाते हुए बिखेरते हुए अपनी धुनि में चले जा रहे थे।

भगवान् के समस्त वस्त्र, आभूषण, अंग, उपांग, भाव सभी वस्तुएँ चिन्मय होती हैं। जड़ता का तो वहाँ प्रवेश ही नहीं। इसीलिये भगवान् का आह्लाद भी चिन्मय ही था। कृष्ण छोटे आह्लाद अत्यधिक वे आह्लाद को सम्हाल न सके, वह गली कूचे, डगर, बगर, पौरी, आँगन, बन, उपवन, कुञ्ज निकुञ्ज सभी में बिखरने लगा और उसे क्रोध भी आ गया। आह्लाद ने सोचा—"ऐसे छोटे हृदय वाले कृष्ण के पास अब मैं नहीं रहूँगा।" यह सोचकर आह्लाद श्रीकृष्ण हृदय से निकल कर भागा।

आप ही सोचिये जिसके हृदय से आह्लाद निकल जाय,

उसकी कैसी विचित्र दशा होगी। जब आह्लाद निकलकर भागा, तब श्रीकृष्ण ने उसे डाँटते हुए कहा—"अरे, अरे, कहाँ भागा जाता है, तनिक खड़ा तो रह।" किन्तु वह कब सुनने वाला था, वह मूट्ठी बाँधकर भागा श्रीकृष्ण भी कम खिलाड़ी नहीं थे। नटवर ही ठहरे, ये भी पीताम्बर को कसकर फेंट बाँधकर उसके पीछे पकड़ने को भागे। आगे-आगे आह्लाद और पीछे-पीछे श्रीकृष्ण। कभी-कभी तो श्रीकृष्ण उसके निकट ही पहुँच जायँ, किन्तु वह फिर पूरे वेग से भाग खड़ा हो। इस प्रकार दोनों भागते हुए यमुना के तट वंशीवट के निकट पहुँच गये। अबके कृष्ण ने ऐसी दौड़ लगायी कि एक हाथ और बढ़ादें, कि वह झट पकड़ में आ जाय। आह्लाद ने जब देखा कि अब तो मैं पकड़ में आ ही जाऊँगा, कहीं छिप जाऊँ। छिपने को कोई समीप में स्थान नहीं था। श्रीकृष्ण सिर पर ही सवार थे। आह्लाद ने इधर-उधर देखा तो क्या देखता है, यमुनाजी के तट पर एक छोटी सी–भोरी सी–कनकलता के सदृश अत्यन्त ही सुन्दरी मनोरमा गोरी सी छोहरी बैठी सुवर्ण कलश को हाथ में लिये हुए पानी भर रही है। आह्लाद ने अन्यत्र कहीं छिपने को आश्रय न देखकर उसी छोहरी के हृदय में जाकर छिप गया। अब श्रीकृष्ण सिटपिटा गये। कोई छोहरा होता तो उसे पकड़कर घर दबाते। किन्तु छोहरी से हाथ कैसे लगावें, और वह छोहरी भी एकदम अपरिचिता। खड़े हो गये। विवशता के स्वर में रिरियाते हुए बोले—"ऐजी ऐजी ! आप कौन हैं ?"

लड़की ने अपना सिर ऊपर उठाया। देखा एक अत्यन्त सुघर मनोहर वस्त्राभूषणों से सजा हुआ मोर मुकुट धारण किये हुए कृष्ण वर्ण का छोहरा विवशता के भाव से दीन बना उससे प्रश्न कर रहा है। लड़की को दया आ गयी, उसने पूछा—तुम

क्या चाहते हो ? वाणी में मिश्री सी घोलते हुए श्याम सुन्दर ने कहा—"मै आपका परिचय जानना चाहता हूँ।"

लड़की कुछ सहमी फिर पंचम स्वर में वीणा विनिन्दित वाणी में भाव विह्वल होकर बोली—"मै बरसाने के राजा वृषभानु जी की पुत्री हूँ, मेरा नाम राधा है ?"

मानों श्रीकृष्ण के कानों में किसी ने अमृत उड़ेल दिया हो, सहसा वे बोल उठे—"राधा ! राधा !! राधा !!! राधा आप ही हो ?"

लड़की सकपका गयी शरमा गयी, सिर नीचा करके बोली—"क्यों तुम मेरा नाम कैसे जानते हो ? तुम कौन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ?"

अब श्यामसुंदर की बारी थी। उनका हृदय वेग से धड़कने लगे। दोनों हाथों से उन्होंने कसकर हृदय को थामा और अत्यंत ही मधुर वाणी में बोले—"वृषभानुनन्दिनी कीर्ति कुमारी का सुनाम कौन अभागा न जानता होगा। उनकी सुंदरता की तो सम्पूर्ण व्रज भर में चर्चा है। मैं नन्द जी का लडका हूँ, यशोदा मेरी मैया है, मुझे सब लोग कृष्ण-कृष्ण कहते हैं।"

इस दो अक्षर के नाम को सुनते ही राधाजी चौंक पड़ी—"कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण तुम्हारा ही नाम है। कृष्ण चोर तुम ही हो।"

राधाजी कहते तो कह गयीं, किन्तु पीछे उन्हें बड़ा भारी पश्चात्ताप हुआ। मेरे मुख से यह कैसा शब्द निकल गया। पहिली ही भेंट ऐसा अनर्थ। किसी को चोर कहदो, तो उसे कितना दुःख होगा। लज्जा के कारण उनका मुखमण्डल लाल हो गया, वे भय विह्वला-सी नीचे की ओर निहारने लगीं।

अब कृष्ण को कुछ साहस हुआ, वे बोले—"राजा की बेटी

को यह बात शोभा नहीं देती। मैंने आपकी कौन-सी वस्तु चुरायी है ?"

अब राधा जी क्या कहतीं-सोचने लगी, चोर तो ये अवश्य ही है, आते ही इन्होंने मेरा मन ही चुरा लिया। रात में नहीं दिन में चुराया, छिपकर नही सबके सामने चुराया, मारधाड़ करके नहीं हँसते-हँसते चुराया। किन्तु सत्य बात को भी अप्रिय होने पर न कहना चाहिये, यही सोचकर वे बोलीं—"मुझे क्षमा कर दीजिये, मैंने तो ऐसा सुना था, अनायास मेरे मुख से यह निकल गया। आग लगे ऐसे मुख मे।"

अब तो रंग में भंग होना चाहती है। राधाजी अत्यधिक लजा गयी हैं, उनकी लज्जा को दूर करने के लिये श्यामसुंदर शीघ्रता के साथ बोले—"नहीं-नहीं, क्षमा की कोई बात नहीं। आपने जो सुना है वह सत्य ही है। मैं किसी के रुपये पैसे नहीं चुराता, वस्त्राभूषण भी नहीं चुराता मुझे गोरस चोरी की आदत पड़ गयी है। चोरी का माखन मुझे बहुत ही स्वादिष्ट लगता है, इसलिये कभी-कभी गोरस चुरा लेता हूँ। सो भी किसी दूसरे का नही अपना जहाँ समझता हूँ वही से चुराता हूँ।"

राधाजी मन ही मन प्रसन्न हुई। श्री कृष्ण के प्रत्येक शब्द में अपनापन था, इससे उनका कुछ साहस बढ़ा और बोली—"तो आप मुझसे क्या चाहते हैं, मेरे पास तो गोरस है नही, मेरी किस वस्तु पर आपकी ताक है ?"

यह सुनकर श्याम सुन्दर मुस्कराये और बोले—"अजी, मुझे सर्वथा चोर ही मत समझो मैं आपकी सोने की गगरी नहीं चुराऊँगा। मेरी एक वस्तु खो गयी है, मै उसी को खोज में हूँ। आपके पास हो तो दे दो।"

अब राधाजी का साहस और बढ़ा वे बनावटी क्रोध की मुद्रा

में बोलीं—"संसार सभी को अपना जैसा ही समझता है। तुम स्वयं चोर हो, और मुझे भी चोर समझकर चोरी लगा रहे हो?"

शीघ्रता के साथ श्रीकृष्ण बोले—"नहीं-नहीं जी आप तो कुपित हो गयीं। मेरा अभिप्राय यह नहीं था, कि आपने मेरी वस्तु चुरायी है। मेरे देखते-देखते वह आपके हृदय में घुस गयी है?"

क्रोध की मात्रा और दुगुनी करके लड़की बोली—"तो क्या आप मेरे हृदय को खोलकर उसकी तलाशी लेना चाहते हो?"

सकपका गये श्रीकृष्ण वे बोले—"नहीं-नहीं, मेरी ऐसी इच्छा नहीं। भला मैं ऐसा दुस्साहस कर सकता हूँ। मेरा निवेदन इतना ही है कि मेरा आह्लाद जो आपके पास है उसे मुझे लौटा दें।"

अब उनका पारा चढ़ता ही जाता था, वे बोलीं—तुम्हारे घर हम चोरी करने नहीं गये थे, यमुना तट पर यदि हमें कोई वस्तु पड़ी मिल जाय, तो वह हमारी है। "पाई चीज कमाई। धरि कोठे पर पर खाई, टका देउ छुड़वाई।" इतना कहा—और वे तनिक मुस्करायीं, सुवर्ण कल-सी यमुना जल से भरी श्री कृष्ण को सींग दिखाकर, वेणी हिलाते हुए राधिका जी वहाँ से गगरी सिर पर रख कर बरसाने की ओर चल दी।

श्रीकृष्ण सर्वस्वलुटे व्यापारी की भाँति जूआ में सर्वस्व-हारे जुआरी की भाँति, मणि विहीन सर्प की भाँति वहाँ चिन्ता मग्न कुछ देर खड़े रहे, फिर पालतू हिरन की भाँति राधा जी के पीछे-पीछे चलने लगे। जाते-जाते राधा जी कनखियों से देखती भी जातीं थीं कि ये पीछे आ रहे हैं या नहीं। इसलिये फिर अपने आह्लाद को दूसरे के हृदय में छिपा देखकर उसे पाने की इच्छा से श्रीकृष्ण राधाजी के पीछे-पीछे फिरने लगे। जब वे महल में घुस गयीं, तो श्रीकृष्ण दिन-रात महलों का ही चक्कर लगाने

लगे। किसलिये ? आह्लादिनी शक्ति से आह्लाद पाने की इच्छा से। उस आह्लाद का रसास्वादन करने के ही निमित्त श्रीकृष्ण भाँति-भाँति की माया-छद्मलीला-करने लगे। छद्मलीला माया ही है। श्रीकृष्ण अपना रूप छिपाकर राधा जी के दर्शनों को बारबार जाते हैं। क्योंकि मोहन के मन को आह्लादिनी शक्ति मोहिनी राधा ने मोह लिया है। इस मोहन मोहिनी माया के विषय में या तो स्वयं मोहिनी ही जानती है या स्यात् मोहन भी जानते हों, जीव की तो वहाँ पहुँच ही नहीं। जीव पर तो जब कृपा हो जाय, तो वह दर्शनों का अधिकारी हो सकता है।

दूसरी जगन्मोहिनी माया है। यह माया भगवान् की सन्निधि में ही कुछ कर सकती है। उसे जड़ भी कैसे कहें क्योंकि सम्पूर्ण जगत् को नचा रही है। चैतन्य भी कैसे कहें, क्योंकि चैतन्यांश जीव इसके साथ नाचते हैं। जड़ चैतन्य मिली-जुली कहें तो वह भी नहीं बनता। बस, यह जैसी है, तैसी ही है, कुछ कहते नहीं बनता। ऐसे ही सट्ट पट्ट है। इसके सम्बन्ध में कुछ कहना ही फँस जाना है। अतः इसकी ओर ध्यान न देकर इसके स्वामी मायावी मायेश की ही शरण में जाना चाहिये।

तीसरी पुरुष मोहिनी माया है, यह भी ब्रह्मा जी ने स्वयं ही निर्मित की है। निर्मित क्या की है, वे स्वयं ही आधे रूप से बन गये हैं। जब ब्रह्मा जी ने देखा मानसिक सृष्टि बहुत प्रयत्न करने पर भी बढ़ती नहीं। मानसिक पुत्रों से जब सृष्टि बढ़ाने को कहते हैं, तो वे ऐकान्तिक भाव से टका-सा उत्तर दे देते हैं—"क्या होगा सृष्टि बढ़ाने से ?"

ब्रह्माजी कहते हैं—"अरे, भाई, तुम सब ही विरक्त हो जाओगे, तो काम कैसे चलेगा। संसार चक्र कैसे चलेगा ?"

वे उत्तर देते हैं—"न चले संसार चक्र, हमने 'संसार चक्र

चलाने का कोई ठेका थोड़े ही ले रखा है। न चले तो और भी अच्छा। जीव व्यर्थ हो चौरासी के चक्कर में घूमेंगे।"

तब ब्रह्माजी बड़े हताश हुए अत्यधिक निराश हुए। परम चिन्तित हुए। सोचने लगे—"अब क्या होगा ? सृष्टि की वृद्धि कैसे होगी ? भगवान् ही रक्षा करेंगे, तभी काम चलेगा। भगवान् ही इस संसार चक्र चलाने को कोई वस्तु भेजेंगे। वे ही मुझे बुद्धियोग प्रदान करेंगे।"

जब ब्रह्मा जी सच्चे भाव से भगवान् की शरण में सृष्टि चक्र चलाने की कामना से गये, तब वांछा कल्पतरु भगवान् ने उनकी कामना पूरी कर दी। ब्रह्माजी के शरीर के दो भाग हो गये। वाम भाग से कामिनी नारी और दायें से नर। यह नर को मोहने वाली–संसार चक्र को चलाने वाली–यह नारी ही पुरुष मोहिनी माया है। इसीलिये भगवान् कपिलदेव मोक्ष की इच्छा वाली अपनी माताजी से कह रहे हैं—"माताजी ! तुम मेरी इस स्त्री रूपिणी माया का बल तो देखो, जो दिग्विजयी वीर बड़ी-बड़ी अपार चतुरंगिणी सेना द्वारा परास्त नहीं होते, उन वीरों को मेरी यह स्त्री रूपिणी माया अपने भृकुटि विलास मात्र से पदाक्रान्त कर देती हैं पैरों से कुचल देती है।"

जिस कार्य को किसी भी प्रकार से होने की सम्भावना न हो, वह काम मोहिनी माया के द्वारा हो सकता है। समुद्र मन्थन के समय जब भगवान् धन्वन्तरि अमृत का कलश लेकर निकले, तब असुरगण उनके हाथ से अमृत का कलश बलपूर्वक छीन कर भग गये। असुरों के बल का अनुमान आप इसी से लगा सकते हैं, कि साक्षात् भगवान् के अवतार धन्वन्तरि के हाथों से–जो एक नहीं दो नहीं पूरे चारों हाथ वाले थे, उनसे–अमृत

छीनकर भग गये । देवता निराश के गर्त में गिरकर भगवान् की ओर निराशा भरी दृष्टि से टुम्म-टुम्म निहारने लगे ।"

भगवान् उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर दया के वशीभूत होकर हँस पड़े और बोले—"अरे, देवताओं ! ऐसे निराश क्यों हो रहे हो ?"

देवताओं ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"अजी, महाराज ! निराशा की तो बात ही है । जिस अमृत को लेकर चतुर्भुज भगवान् धन्वन्तरि निकले, जिसकी रक्षा आप अजित रूप मन्वन्तरावतार भगवान् कर रहे हों, उस अमृत को इन्द्र, वरुण, कुवेर यम आदि प्रबल प्रचन्ड पुरुषार्थ वाले देवताओं के देखते-देखते असुर छीन ले जायं ? जैसे यमराज के हाथ में गये हुए प्राणी को कोई लौटाने में समर्थ नहीं वैसे हो असुरों के हाथ में गये अमृत को लौटा लाना अब असम्भव है ?"

भगवान् ने कहा—तुम चिन्तित मत होओ । मैं असुरों के हाथ से अमृत को छीन लाऊँगा ।

देवताओं ने कहा—"महाराज, कैसे छीन लाओगे । आपका अवतार रूप कछुआ नोचे से देख रहा था, साक्षात् धन्वन्तरि अवतार भगवान् जिसे ले आये थे । अजित रूप से आप भी मन्वन्तरावतार रूप में हमारे सम्मुख खड़े थे । जब इन सबसे अमृत की रक्षा न हो सकी तो अब आप इस असम्भव कार्य को सम्भव कैसे कर सकेंगे ? कैसे इन रण दुर्मद असुरों के हाथ में गये हुए अमृत को लौटा सकोगे ?"

तब भगवान् ने हँसकर कहा—"अरे, देवताओं ! तुम अधीर क्यों हो रहे हो, चिन्ता को छोड़ो, तुम असुरों से भयभीत न हो, वे चाहे कितने बली क्यों न हों, उन्हें मैं ऐसा लटका दिखाऊँगा कि वे बिना ननुनच किये अपने आप मुझे अमृत सौंप देंगे ।"

देवताओं ने आश्चर्य के साथ कहा—रहने भी दीजिये भगवन्! आपके सामने ही तो आपके ३-३ अवतार रूप देखते रह गये और वे अमृत छीनकर भग गये। अब वे कैसे हाथ में आये हुए अमृत को दे सकते हैं।

हँसते हुए भगवान् बोले—"देखो भाई, मेरा कछुआ अवतार भी पुरुष था, धन्वन्तरावतार भी पुरुष था और मेरा अजितावतार भी पुरुष था वे तीनों अवतार भी जिस काम को न कर सके, उस काम को मैं माया से एक चौथा मोहिनी अवतार लेकर करा लूँगा। नथ पहिन कर, सैन चलाकर, आँखें मटका कर, मीठी बोली बोलकर उनमें परस्पर में फूट डलवा दूँगा। वे अपने आप मेरे हाथ जोड़ेंगे, पैरो पड़ेंगे और अमृत को सौंप देंगे।" यह मेरी पुरुष मोहिनी माया ऐसी ही प्रबल है। इस प्रकार मोहन मोहिनी माया से तो गोलोकादि दिव्य लोकों में सत्यसनातन अनादि क्रीडायें हो रही हैं। जगन्मोहिनी माया से विश्व चल रहा है और पुरुष मोहिनी माया से पुरुष चौरासी के चक्कर में घूम रहा है, इसीलिये कपिल भगवान् ने अपनी माता जी देवहूति से कहा है—"माता जी! जो पुरुष योग के परम पद पर आरूढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवा के प्रभाव से आत्मा अनात्मा का विवेक हो गया हो, उसे मेरी योषित् रूप माया का कभी संग न करना चाहिये। क्योंकि यह दुरत्यया माया है। देव विनिर्मित जो यह मेरी योषित रूपा माया है यह शनैः-शनैः सेवादि के मिस से समीप आती है। उसे तुम तिनकों के ढके कूप के समान अपनी मृत्यु ही समझो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह पूछा—"आप के स्वरूप मूढ़ जगत को संसारीपन की प्राप्ति कैसे होती है।"

तब भगवान् कहने लगे—'अर्जुन ! ये जगत के जीव त्रिगुणमय भावों से विमोहित बन जाते हैं। इसीलिये ये चक्कर में फँस जाते हैं।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आप तो जगत् से भिन्न हैं, यह जीव जो आपका अंश भूत है वह भी जगत से भिन्न है। आप तो जगत् के अधिष्ठान भूत हैं, अविनाशी हैं। फिर जीव क्यों फँस जाता है ?"

भगवान् ने कहा—भाई, यही तो माया है, जीव मेरे सत् स्वरूप को भूल जाता है, माया के वशीभूत होकर अपने को बद्ध मानने लगता है।

अर्जुन ने कहा—माया क्या वस्तु है भगवन् ! जिसके वशीभूत होकर जीव अन्धा होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है। यह माया कहाँ से बीच में आकर टपक पडी ? यह माया किसकी है ?

हँसकर भगवान् बोले—"अर्जुन ! मुझसे अतिरिक्त जब कुछ है ही नहीं तो माया किसी दूसरे की निर्मित हो ही कैसे सकती है। यह माया भी मेरी ही है। यह भी देव निर्मित दैवी माया ही है।"

अर्जुन ने पूछा—इस माया का स्वरूप क्या है ?

भगवान् बोले—"और चाहे जो पूछ लो। माया का स्वरूप मत पूछो। कुछ स्वरूप हो तो बताऊँ। कोई कहते हैं यह लक्ष्मी रूपा है, कोई कहते न होने पर जो होती सी प्रतीत हो, कोई कहते हैं जड़ है इसलिये मैं इसका निरूपण नहीं कर सकता। बस, इतना ही समझ लो कि इसका पार पाना अत्यन्त कठिन है। वह 'दुरत्यया' है।

अर्जुन ने कहा—जब आप इसे कठिनता से पार की जाते

योग्य बता रहे हैं, तब तो कोई जीव इस माया को पार हो न कर सकता होगा ?"

भगवान् ने कहा—नहीं, ऐसी बात तो नहीं है, कुछ लोग इसे पार भी कर जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे पुरुष कौन हैं ? उनमें क्या विशेषता है ?"

भगवान् ने कहा—"जो मेरे प्रपन्न हो जाते हैं, मेरी ही शरण में आ जाते हैं, मेरे ही भक्त बन जाते हैं, वे भक्तिवान् पुरुष ही मेरी माया को पार कर सकते हैं। जो मेरी शरण में नहीं आया। प्रपन्न नहीं हुआ, भक्त नहीं बना, वह कदापि मेरी माया को पार नहीं कर सकता।"

अर्जुन ने कहा—तब तो भगवन् ! माया को तरने का बड़ा सरल उपाय है। सब लोग आपकी शरण क्यों नहीं लेते ? क्यों इस असार संसार सागर में इधर से उधर भटकते फिरते हैं। सब अनर्थों की मूलभूता इस माया को आपकी शरण में जाकर जीव नाश क्यों नहीं कर देते ? आपके सब भक्त क्यों नहीं बन जाते ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

त्रिगुनमयी मेरी यह माया दुस्तर अतिशय।
बड़ी अलौकिक अद्भुत अनुपम जीवनि दुरजय॥
ऐसी है यह प्रबल जीव जीतै फिरि कैसे ?
उत्तम एक उपाय बताऊँ वश है जैसे !
सरल भाव सब समय में, मेरो ई सुमिरन करै।
भजै प्रेम तैं मोइ नित, माया कूँ सुख तैं तरै।

भगवान् का भजन भक्त ही करते हैं, मूढ़ दुष्कृति नहीं

[८]

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥*

(श्री० भग० गी० ७ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

किन्तु मोई नहिँ भजैँ-भजैँ माया कूँ दुरजन।
माया द्वारा हरयो गयो है ज्ञान-परमधन॥
जिनिको क्रूर स्वभाव आसुरी वृत्ति कही है।
ते पामर अति नीच नीचता व्यापि रही है॥
ऐसे अधम स्वभाव के, ध्यान करैं नहिँ प्रेम तैं।
विषयी भोग-विलास-रत, भजैं नहीं नित नेम तैं॥

---

* मुझे दुष्कृति नराधम मूढ पुरुष नहीं भजते, क्योंकि उनका ज्ञान माया के द्वारा हरण किया गया है और उन्होने आसुरी भाव का आश्रय ले रखा है ॥१५॥

हे अर्जुन ! मुझे चार प्रकार के ही सुकृति लोग भजते हैं। हे भरतर्षभ ! उनके नाम आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी हैं ॥१६॥

गीताशास्त्र भगवद् भक्ति को प्रभु प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन मानता है। वह भक्ति केवल बनावटी भक्ति-केवल झाँझ मजीरा बजाने ही वाली न हो। वह कर्ममय हो, पूजामय हो, दानधर्मादि कर्मों से संयुक्त हो। वे कर्म भी किसी लौकिक भोगों की प्राप्ति के निमित्त न हों। निष्काम भाव से-ब्रह्मार्पण बुद्धि से एकमात्र प्रभु को पूजा के ही निमित्त हों, ऐसे प्रपन्न भक्त ही संसारी माया को पार करके प्रभु को प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि मोक्ष को सभी शास्त्र परम पुरुषार्थ मानते हैं। संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करने का ही नाम जिज्ञासा है। जो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो इसकी जिज्ञासा रखते हैं, वे ही जिज्ञासु या मुमुक्षु हैं। मुक्त तो भक्त अभक्त दोनों ही हो सकते हैं। सांख्य की प्रक्रिया में ईश्वर की आवश्यकता नहीं। तत्त्व ज्ञान हो जाने पर सांख्य वादी मुक्ति मानते हैं, वहाँ भगवान् की ही मान्यता नहीं तो उनकी अनन्य भक्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। बहुत से असुर भी भगवान् से वैर करके मुक्त हो गये हैं। नारद जी का तो यहाँ तक कहना है कि मन जितना अधिक वैर भाव में एकाग्र होता है, उतना भक्ति योग से एकाग्र नहीं होता, ऐसी मेरी सुदृढ़ मति है। वे भगवान् से वैर करने वालों की गणना भी भक्तों में ही करते हैं। एक प्रेम भाव से भजने वाले ये भगवान् को वैर भाव से भजने वाले हैं। भक्त तो ये किसी न किसी प्रकार हैं ही। क्योंकि संसारी लोगों से वैर भाव न करके भगवान् से वैर करते हैं। भगवान से वैर का ही सही, कोई न कोई सम्बन्ध तो हुआ ही। सांख्यादि के द्वारा तत्त्वज्ञान करके जो मुक्त हुए हैं, उनकी अपेक्षा ये वैर भाव करके मुक्त होने वाले ज्ञानी असुर श्रेष्ठ ही हैं। किन्तु जो भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझकर उनसे अत्यन्त प्रेम करके जो भगवान् को भजते हैं उनके प्रपन्न होते हैं; गीता के

मत में वे सर्वश्रेष्ठ जिज्ञासु हैं। गीताकार वारम्बार प्रपत्ति पर शरणागति पर प्रेमाभक्ति पर बल देते हैं। ये 'यथा मां प्रपद्यन्ते" जो जैसे मेरे प्रपन्न होता है। "मामेव ये प्रपद्यन्ते" जो मेरे प्रपन्न हो जाता है, वह माया से तर जाता है। शरणागति कह लो, प्रपत्ति कहलो, प्रेमाभक्ति कहलो चाहें निष्काम कर्मयोग कह लो, सब एक ही ज्ञान है। वही अस्सो वही चार बीसी।

संसार में बद्धजीव और मुमुक्षु जीव दो ही प्रकार के जीव हैं। मुक्त जीव और नित्य जीव सब किसी को दृष्टिगोचर नहीं होते। बद्ध जीव दुष्कृति हैं, क्योंकि उन्होंने पूर्व जन्मों में दुष्कृति कर्म-पाप कर्म किये हैं। वे मूढ़ है, इसलिये कि उन्हें परमार्थ का ज्ञान नहीं है, वे दो ही काम करते हैं अन्न को मिट्टी से उत्पन्न करते हैं, उत्पन्न किये हुए अन्न को पुनः मिट्टी बना देते हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि लौकिक कर्मों के अतिरिक्त और कुछ वे जानते नहीं। ऐसे जीव यदि नर शरीर में हैं तो उनकी अधम जीव संज्ञा है। वे भगवान् के प्रपन्न नहीं होते, उनकी शरण में नहीं जाते, प्रभु से प्रेम नहीं करते। सबके सच्चे सुहृद प्रभु से वे हतभागी लोग प्रेम क्यों नहीं करते? इसलिये नहीं करते, कि उनके पीछे एक पिशाचिनी ठगिनी लूटने वाली कुलटा लग गयी है। वह उसके सबसे अधिक मूल्यवान ज्ञानरूपी धन को हरण कर लेती है। जिसके पास धन नहीं रहेगा, वह पाप में प्रवृत्त न होगा, तो अपनी लौकिक इच्छा पूर्ति के लिये और करेगा ही क्या? बद्धजीव इसी श्रेणी में हैं।

अब दूसरे जिज्ञासु हैं। उन जिज्ञासुओं का अन्तःकरण सर्वथा सोचता रहता है, क्या मैं संसार में उपस्थ तथा जिह्वा के वशीभूत ही होने के लिये आया हूँ। ये जो सामने पंचभूत दीखते हैं ये ही तत्त्व हैं या उनसे भी परे कोई यथार्थ तत्त्व है। इसी ऊहापोह में

पड़े वे विचार मग्न रहते हैं, अतः विचारक कहलाते हैं। ये जिज्ञासु विचारक भी दो प्रकार के होते हैं, एक भक्ति मार्ग के पथिक दूसरे केवल विचार मार्ग के पथिक। विचार मार्ग वाले तत्वों का विचार करते रहते हैं। संसार से विरक्त हो जाते हैं। तत्त्वज्ञान को श्रवण करते हैं, फिर उसका मनन और निदिध्यासन करते हुए तत्त्वदर्शी होकर मुक्त हो जाते है वे अपनी जिज्ञासा बुभुक्षा को शान्त करके तृप्त हो जाते हैं। उनको तृप्ति हो जाती है, फिर चाहें वह तृप्ति सूखे सत्तुओं से ही क्यों न हुई हो। फिर उन्हें कोई इच्छा नहीं होती।

दूसरे जिज्ञासु भक्ति मार्ग के होते हैं। वे बिना तर्क-वितर्क किये पहिले एक महान् शक्ति ईश्वर को स्वीकार कर लेते हैं। पहिले विचारक तो जो बात तर्क की कसौटी पर उनके मतानुसार ठीक उतरे उसे ही मानने वाले थे। ये भक्त बिना तर्क के ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं, उनका कथन है, जो अचिन्त्यभाव हैं, वे तर्क से सिद्ध हो ही नहीं सकते उनके प्रति तो श्रद्धा ही रखने से काम चलेगा। वे ईश्वर का अस्तित्व पूर्व जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप, बिना-वाद विवाद के ही मान लेते है।

उन भक्तों में भी कुछ आसुरी प्रकृति के होते हैं असुर उसे कहते हैं, जो प्राण को जीवन को ही सर्वस्व समझते हैं। हम जीते रहें कभी मर नहीं यही असुरों का भाव रहता है। किन्तु ईश्वर का एक नियम है जिसे पैदा करते हैं, उसे मारते भी अवश्य हैं। असुर सोचते हैं, यह सबको मारने वाला विष्णु मुझे भी मार डालेगा, अतः उस भगवान् का अस्तित्व तो मानते हैं, किन्तु उसे प्राणों का हरण करने वाला अपना शत्रु मानते हैं। भगवान् उदार हैं. वे सोचते हैं, चलो कैसे भी सही इन्होंने मुझे मान तो लिया, मेरे साथ सम्बन्ध तो स्थापित कर ही लिया,

इसलिये वे अपने नियम को तो निभा लेते हैं, औरों से मरवायेंगे तो इन्हें पुनः जन्म लेना पड़ेगा। अतः उन वैर भाव वाले–मृत्यु से डरने वाले–असुर भक्तों को मार कर तो अपना नियम पूरा कर लेते हैं और मुक्ति देकर अपनी उदारता का परिचय देते हैं।

दूसरे प्रेम भाव से भजने वाले जिज्ञासु भक्त हैं। वे ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, सर्वान्तर्यामी, समस्त गुणों की खानि, सबसे सुन्दर, सबसे श्रेष्ठ मानते हैं। उनका विश्वास है, कि भगवान् जो चाहें सो कर सकते हैं। ऐसे जिज्ञासुओं के भी चार प्रकार हैं।

पहिले जिज्ञासु तो अर्थार्थी हैं—पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण उनकी अर्थ में आसक्ति है अर्थ की आसक्ति तो संसार के सभी बद्धजीवों में है, फिर उनमें और बद्धजीवों में अन्तर ही क्या रहा। आसक्ति के अनुसार तो उनमें और बद्धजीवों में अन्तर नहीं है, किन्तु अर्थ की प्राप्ति में अन्तर है। भक्त में और बद्धजीव में अन्तर इतना ही है कि बद्धजीव तो मैं मेरा मानता है। मैं अमुक हूँ और अमुक-अमुक वस्तु मेरी है। इसमें घर द्वार कुटुम्ब परिवार सब कुछ आ गया। भक्त मानता है तू तेरा। अर्थात् मेरे स्वामी तू ही सर्वस्व है। जगत् में जो भी कुछ है तेरा ही है। मैं स्वयं भी तेरा ही हूँ। मेरा अपना कुछ नहीं।

जब अर्थार्थी भक्त ने सब भगवान् का ही समझा है, तो फिर अर्थ की याचना क्यों करता है? इसलिये करता है, पूर्व जन्मों के संस्कारवश उसकी अर्थ में आसक्ति है, वह अर्थ प्राप्त करके ठाठ-बाठ से प्रभु की पूजा करना चाहता है। संसारी बद्ध प्राणी भी ठाठ-बाठ चाहता है, किन्तु वह याचना संसारी लोगों से करता है। धन से दुर्मद हुए धनिकों के पीछे धन पाने की लालसा से जैसे कुत्ता रोटी के टुकड़े के लिये पूँछ हिलाता हुआ दीनता के

साथ स्वामी के पीछे घूमता है, ऐसे ही वह धनिकों के पीछे कृपण बनकर घूमता रहता है। इसके विपरीत जिज्ञासु भक्त अर्थ याचना इन संसारी धन दुर्मदों से नहीं करता। वह तो अपने प्रभु पर भरोसा रखता है। यह संसारी लोगों से धन चाहने वाला कितना कृपण है, क्योंकि धनी कृपण ही होते हैं, वह कृपणों से धन पाना चाहता है। मूतों से पूत पाने की इच्छा रखता है। जिज्ञासु भक्त कृपणों से याच्ञा नहीं करता। सबसे अधिक उदार श्रीप्रभु से ही जो इच्छा होती है, वह माँगता है। अतः उदार से माँगने के कारण वह भी उदार है। अतः पहिला सुकृति उदार जिज्ञासु भक्त अर्थार्थी है। पुराणों में ऐसे बहुत से अर्थार्थी भक्त आये हैं। उनमें सुग्रीव, विभीषण, उपमन्यु तथा ध्रुव आदि के नाम लिये जाते हैं। सुग्रीव ने अपनी स्त्री तथा राज्य पाने की इच्छा से श्रीराम की शरण ली। विभीषण ने राज्य पाने की इच्छा से श्रीराम की भक्ति की, उपमन्यु ने दूध पाने की इच्छा से शंकर भगवान् की सेवा की और ध्रुव ने राज्य पाने की लालसा से विष्णु की प्रपत्ति की।

दूसरे भक्त होते हैं आर्त। आर्त अर्थात् दुखी। कोई दुःख, व्याधि, पीड़ा किसी के द्वारा दी जा रही हो, तो उसकी निवृत्ति के लिये भगवान् से पुकार करना। संसारी लोगों को दुःख पड़ता है, तो सगे सम्बन्धियों की शरण लेते हैं; किसी उदार दयालु धनिक की, बलवान् की, सत्ता सम्पन्न मनुष्य की शरण में जाते हैं। किन्तु आर्त जिज्ञासु भक्त सब का आश्रय छोड़कर भगवान् से ही अपनी विपत्ति को मिटाने की प्रार्थना करते हैं। हे प्रभो! यह दुष्ट मुझे मार रहा है, आकर मेरी रक्षा करो। यह रोग मुझे पीड़ा दे रहा है आकर मेरी पीड़ा हरो। यह भूख मुझे व्याकुल कर रही है, आकर मेरी भूख को मिटाओ। आर्त भक्त की

पुकार सुनकर भगवान् अनेक रूपों में आकर उनके दुखों को मिटाते हैं ऐसी भक्तमालादि ग्रन्थों में अगणित भक्तों की गाथायें प्रसिद्ध है। पुराणों में भी जरासन्ध की कैद में पड़े राजा, भौमासुर की कैद में पड़ी राज कन्यायें, इन्द्र के कोप से दुखित हुए व्रजवासी, वन में भूखे गोप, ग्राह से पकडा गज तथा द्यूत सभा में वस्त्र खींचे जाने पर द्रौपदी। इनकी कथायें प्रसिद्ध ही हैं।

जरासंध उस समय का चक्रवर्ती राजा था। वीस सहस्र राजाओं को उसने अपने कारावास में बन्द कर रखा था। सोचा था उन्हें पशुपतिनाथ की बलि चढ़ाऊँगा। उन्होंने आर्त भाव से भगवान् की प्रार्थना की। प्रभु ने जरासंध को मरवा कर उन्हें कारागार से मुक्त करके उनके दुःख को दूर किया।

इसी प्रकार भौमासुर ने सोलह सहस्र एक सौ कन्याओं को वन्दी वना रखा था। वह बीस सहस्र होने पर उनसे विवाह करना चाहता था। उन्होंने आर्त होकर भगवान् की दासी वनने की इच्छा की। भगवान् भौमासुर की पुरी में गये। उसे मारकर सबको वन्धनमुक्त ही नहीं किया उन्हें अपनी शरण में रखकर अपनी दासी बना लिया।

इन्द्र की पूजा न होने पर क्रुद्ध होकर उसने व्रज को डुबाने की इच्छा से प्रबल वर्षा की। व्रजवासी आर्त होकर भगवान् की शरण में गये। भगवान् ने सात दिनों तक गोवर्धन को धारण करके समस्त व्रजवासी गोप गोपियों और गौओं के दुःख को दूर किया।

व्रजवासी ग्वाल वाल दूसरी दिशा में गौएँ चराने ले गये थे। मध्यान्ह में भोजन नहीं आया। सभी ग्वाल भूख से आकर दुखी होकर छटपटाने लगे। आर्त भाव से वे भगवान् की शरण में

गये। भगवान् ने यज्ञपत्नियों को प्रेरित करके भोज्य पदार्थ मँगाकर सब ग्वाल बालों को तृप्त किया।

पानी पीने को आये गजराज के पैर को महान बलशाली ग्राह ने पकड़ लिया। पुत्र पत्नी परिवार वाले सब छोड़कर भग गये। तब गजराज ने आर्त भाव से भगवान् को पुकारा। तुरन्त भगवान् ने आकर नक्र के वक्र को काट कर गजराज की रक्षा की।

द्रौपदी को दुस्साशनादि दुष्ट भरी सभा में नग्न करना चाहते थे। जब द्रौपदी ने देखा मेरे पाँचों पति समस्त सभासद भी मेरी लाज नहीं बचा सकते तब उसने आर्त भाव से भागवान् श्यामसुन्दर को पुकारा। उसके आर्त वचन को सुनते ही भगवान् ने तुरन्त सभा में आकर वस्त्रावतार धारण करके द्रौपदी की लाज बचायी।

इस प्रकार ये दूसरे भक्त विपत्ति पड़ने पर भगवान की ही शरण में जाकर उससे दुःख निवारण की प्रार्थना करते हैं और भगवान उनकी रक्षा करते हैं।

तीसरे जिज्ञासु भक्त होते हैं—उन्हें संसार के किसी पदार्थ की इच्छा नहीं होती, किन्तु संसार उन्हें दुःखमय प्रतीत होता है, इससे पार जाने की इच्छा वे रखते हैं। कोई उन्हें पथ प्रदर्शन दिखायी नहीं देता, तब भगवान् से वे प्रार्थना करते हैं। तो भगवान् गुरु रूप से या प्रत्यक्ष आकर उनकी जिज्ञासा को पूर्ण करते हैं। भक्तों के ऐसे अनेकों उदाहरण है, कि भगवान् ने किसी के द्वारा उन्हें उपदेश दिलाकर उनकी जिज्ञासा पूरी की। पुराणों में महाराज परीक्षित, मुचुकुन्द, राजा जनक, राजा बहुलाश्व और श्रुतदेव ब्राह्मण तथा अर्जुन राजा सत्यव्रत और उद्धवादि की कथायें सर्व विदित हैं।

महाराज परीक्षित विप्र शाप से शापित होकर, गङ्गा तट पर मोक्ष की जिज्ञासा से आकर बैठ गये थे। भगवान् ने शुक रूप से स्वयं पधार कर उनको जिज्ञासा को शांत किया।

महाराज मुचुकुन्द जिज्ञासु थे, फिर भी देवताओं के वरदान से गुफा में सो रहे थे। भगवान् ने उनके द्वारा कालयवन को मरवा कर अन्त में उन्हें दर्शन देकर ज्ञान का उपदेश दिया। और अगले जन्म में ब्राह्मण बना कर फिर संसार से विमुक्त बना दिया।

राजा जनक बड़े भारी जिज्ञासु थे उनकी जिज्ञासा को अष्टावक्रादि गुरु रूप में आकार शान्त किया। उन्हें मोक्ष मार्ग का अधिकारी बना दिया।

मिथिला के राजा बहुलाश्व तथा वहीं के श्रुतदेव ब्राह्मण दोनों ही जिज्ञासु थे भगवान् के भक्त थे। भगवान् ने मिथिला में पधार कर दोनों के ही घरों में दो रूप बनाकर एक साथ प्रवेश करके दोनों को ही प्रसन्न किया और उन्हें तत्व का उपदेश करके अपनी भक्ति करने का उपदेश दिया।

अर्जुन की जिज्ञासा पर तो भगवान् ने बीच रणाङ्गण में १८ अध्याय के गीता का उपदेश करके उसे निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त किया।

इसी प्रकार मौसलकाण्ड समाप्त होने पर उद्धवजी की जिज्ञासा को मिटाकर उन्हें तपस्या के निमित्त तथा जगत् में भगवत् भक्ति के प्रचार निमित्त भगवान् ने उन्हें बदरिकाश्रम भेजा।

प्रलयकाल उपस्थिति होने पर राजा सत्यव्रत की जिज्ञासा मिटाने को भगवान् ने मत्स्य रूप धारण करके गुरुभाव से उन्हें मत्स्य पुराण का उपदेश देकर उनको जिज्ञासा मिटायी।

वास्तव में सबसे श्रेष्ठ गुरु जगद्गुरु भगवान् ही हैं। वे ही जिज्ञासुओं को अनेक-रूप रखकर या प्रत्यक्ष होकर ज्ञानोपदेश देते हैं। जिज्ञासु भक्तों के दर्शनों से भी पाप कटते हैं।

चौथे ज्ञानी भक्त होते हैं। एक तो अव्यक्त ज्ञानी होते हैं, दूसरे भक्त ज्ञानी। ब्रह्म का ज्ञान तो हो गया, अब उन्हें किसी साधना की आवश्यकता नहीं। कुछ जानने को शेष नहीं रह गया है फिर भी भगवत्भक्ति का रसास्वादन लेने के निमित्त वह भगवान् की निष्काम भाव से पूजा करता है, कीर्तन करता है, प्रेम में विह्वल होकर रोता है, हँसता है। अपने प्रेम प्रभाव से त्रिभुवन को पावन करता है। सर्वत्र प्रेम का प्रसार करता है। उसे कोई कामना नहीं। आप्तकाम है, कोई राग नहीं, वीतराग है, कोई बन्धन नहीं, समस्त संसारी बन्धनों से निर्मुक्त हैं फिर भी भगवान् का भजन करने, भजन का रस चखने दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुरादि किसी रस का आश्रय लेकर भगवान् की, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन तथा आत्मनिवेदनादि भक्तियों को करता है। ऐसे ज्ञानवान भक्तों के दर्शन से त्रिभुवन कृतार्थ होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने जिज्ञासा की कि 'सब लोग आपका भजन क्यों नहीं करते' तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! मुझे तो मेरे भक्त ही भजते हैं। जो मूढ़ है, वे मुझे कैसे भज सकते हैं ?"

अर्जुन ने पूछा—"मूढ़ किसे कहते हैं भगवन्।"

भगवान् ने कहा—जिन्हें यह विवेक न हो, कि कौन से कार्य करने से अर्थ सिद्ध होगा, कौन से कार्य करने से अनर्थ होगा। बस, शिश्नोदर परायण होकर सदा विषयों ही की चिन्ता में मग्न रहें वे ही मूढ़ हैं।

अर्जुन ने पूछा—"उन्हें मूढ़ता क्यों प्राप्त होती है प्रभो।"

भगवान् ने कहा—भैया, दुष्कृतों-पापों-के कारण ही उन्हें मूढ़ता प्राप्त होती है। सहस्रों जन्मों में जिन्होंने तपस्या, यज्ञ, दान धर्मादि पुण्यकर्म किये हैं, उन्हें तो भगवद् भक्ति की प्राप्ति होती है और जो जन्म-जन्मान्तरों से हिंसा, परद्रोह, परनिंदा आदि दुष्कृत कर्म करते आये हैं उन्हें मूढ़ता की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! यह मनुष्य जन्म तो पुण्यों से ही प्राप्त होता है। इस पुण्य शरीर को भी पाकर वे पाप क्यों करते हैं?

भगवान् ने कहा—वे नर अवश्य हैं मनुष्य शरीर उन्हें अवश्य प्राप्त हुआ है। किन्तु नराधम है। अधम पुरुष हैं।

अर्जुन ने कहा—वेद शास्त्रों के वचन प्रमाण हैं, सन्त महात्मों की वाणी प्रमाण हैं, ऋषि मुनियों के अनुभव प्रमाण हैं, फिर भी वे मूढ़ तथा नराधम क्यों बने रहते हैं?

भगवान् ने कहा—"भैया, उनके सद् असद् विवेक के ज्ञान को माया ने हर लिया है। इससे वे आसुरभाव को प्राप्त हो गये हैं। केवल प्राणों के पोषण में ही लगे रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! जो आसुरभाव को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे लोग कौन है?"

भगवान् ने कहा—वे नराधम नहीं, वे तो मेरे भक्त हैं।

अर्जुन ने पूछा—"आपके भक्त भगवन्! के प्रकार के होते हैं?"

भगवान् ने कहा—"मेरे भक्त चार प्रकार के होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कौन-कौन से?"

भगवान् ने कहा—हे भरतर्षभ! उन चारों के नाम सुनो।

पहिले आर्त भक्त, दूसरे, जिज्ञासु भक्त, तीसरे अर्थार्थी भक्त और चौथे ज्ञानी भक्त।

अर्जुन ने कहा—आर्तभक्त के क्या लक्षण है ?

भगवान् ने कहा—"जो किसी दुख से दुखी होकर उस दुःख को मिटाने की मुझसे ही प्रार्थना करे।"

अर्जुन ने पूछा—जिज्ञासु भक्त किसे कहते है ?

भगवान् ने कहा—जिसके मन में यह जिज्ञासा जाग्रत हो, कि जगत क्या है, जीव क्या है, मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, मेरा जनक कौन है, इत्यादि-इत्यादि जगत् से परे की जिज्ञासा वाला।

अर्जुन ने पूछा—अर्थार्थी किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—"किसी अर्थ की इच्छा से मेरा भजन करे। यह वस्तु भगवान् मुझे दे दो।"

अर्जुन ने पूछा—ज्ञानी भक्त किसे कहते है ?

भगवान् ने कहा—"जिसे न तो संसारी पदार्थ की इच्छा ही हो, न जिसे किसी प्रकार के दुःख का ही अनुभव होता हो और न जिसे किसी प्रकार की जिज्ञासा ही शेष रह गयी हो। जो आप्त काम हो, फिर भी भक्ति का रस चखने, भक्ति सम्बन्धी कार्यों में निरत रहता हो। जिन कामों से भक्ति बढ़े, भक्ति का प्रचार प्रसार हो, भक्तों के चरितों का अनुकरण, अनुसरण लोग करें, निष्कामभाव से ऐसे कार्यों में सदा रत रहता हो।"

अर्जुन ने पूछा—ये अर्थार्थी तो स्वार्थी भक्त हैं, आर्त डरपोक भक्त है, जिज्ञासु निरीह भक्त है, ज्ञानी बहुरूपिया भक्त है, कि सब कुछ जान लेने पर भी भक्ति के कार्य करते रहते हैं।

भगवान् ने कहा—"ना भैया, ऐसा मत कहो, ये सभी सुकृति है, सभी पुण्यवान् हैं। स्वार्थ सिद्ध के लिये संसारी पुरुषों के सम्मुख तो दीनता नहीं दिखाते। मुझे ही अपना सर्वस्व समझकर

मुझी से मांगते हैं मुझसे मांगना-मांगना नहीं कहाता। आर्तभक्त संसार में न किसी से डरते हैं न किसी से आशा रखते हैं दुख पड़ने पर मुझे ही तो पुकारते हैं। मुझे पुकारने में कोई भय नहीं। जिज्ञासु भी संसारी लोगों से संसारी पदार्थ की जिज्ञासा नहीं करते अतः वे महान् सुकृति हैं। ज्ञानी भक्तों को तुम बहुरूपिया बताते हो, सो वे हैं तो मेरे ही भक्त, मै भी तो बहुरूपिया ही हूँ। मैं भी तो मायावी ही हूँ, मैं भी तो मत्स्य, कच्छ, वराह, नृसिंह, रामकृष्णादि अनेक रूप बनाता हूँ। "इसलिये भैया, किसी को छोटा बड़ा मत कहो। चारों सुकृति हैं, चारों उदार हैं।"

अर्जुन ने पूछा—फिर भी भगवन् ! इन चारों में उन्नीस बीस का तो कुछ अन्तर होगा ही। इनमें जो सबसे श्रेष्ठ हों, उनका नाम मुझे बता दीजिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न को सुनकर भगवान् हँस पड़े। अब भगवान् जैसे अर्जुन के इस प्रश्न का जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

चार तरह के लोग भजें मोकूँ सुनि अरजुन।
प्रथम भक्त हैं आर्त करें दुख में जो सुमिरन॥
अरथार्थी हैं द्वितीय भोग हित हरि पद पकरें।
तीसर हैं जिज्ञासु तत्त्व जानन हित सुमिरें॥
चौथे वे ज्ञानी कहे, नहिँ भोगनि में जाइ मन।
चारिहु सुकृती जन कहे, लेवें मेरी ही शरन॥

ज्ञानी मेरी आत्मा ही है

[६]

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥❀
(श्री भ० गी० ७ अ० १७, १८ श्लोक)

छप्पय

सुकृती चारिहु जदपि, मोइ ज्ञानी अति प्यारो ।
नित्ययुक्त बनि रहे न समुझे निज कूँ न्यारो ॥
एकनिष्ठ सो भक्त अन्य कूँ कबहुँ भजहिं नहिं ।
सब तैं उत्तम श्रेष्ठ भोग रति नहिं द्वन्दनि सहि ॥
ज्ञानी मोकूं प्रिय अधिक, समुझै मोकूं तत्त्व तैं ।
हौं वाकूं प्रियतम लगूं, चलित होहि नहिं इष्ट तैं ॥

❀ इन चारों में नित्ययुक्त और एक भक्ति होने से ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ और मुझे वह ज्ञानी अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥

ये चारों ही बड़े उदार हैं, किन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, वह युक्तात्मा ज्ञानी मेरे में ही अनुत्तमा गति से अवस्थित है, ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥१८॥

आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकार के भक्त होते हैं। इनमें तीन में सकामता है, एक ज्ञानी निष्काम भक्त है। जिज्ञासु भक्त मध्य का है, न वह सर्वथा सकामी ही है न सर्वथा निष्कामी हो। सकामी दो ही हैं। एक आर्त दूसरा अर्थार्थी। भगवान् को तो चारों ही मानते हैं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं, वे सब कुछ कर सकते हैं, उनके यहाँ किसी वस्तु का अभाव नहीं। ऐसी धारणा सबकी है, किन्तु आर्त और अर्थार्थी पूर्वजन्मों के कर्मानुसार संसारी विषयों में आसक्त है। आर्त भक्त धन के अभाव से पारवारिक कलह से, आधि-व्याधि आदि दुःखों से जब ऊब जाता है, तो वह उस दुःख से छुटकारा पाने के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है; उनकी शरण में जाता है। वह अपने दुःखों का नाश भी चाहता है और भगवान् को भी चाहता है। अर्थार्थी में और आर्त में कोई विशेष अन्तर नहीं। कुछ अन्तर है। आर्त-दुखी तो दोनों हैं, किन्तु आर्त जो भी दुःख पड़ता है शारीरिक हो, मानसिक हो, आधिभौतिक हो, आधिदैविक हो, अथवा आध्यात्मिक हो; सबके लिये भगवान् से प्रार्थना करेगा, किन्तु अर्थार्थी भक्त समझता है, कि लोक में मेरा अपमान क्यों हो रहा है, लोग मेरी वस्तु को बलात् अपनी क्यों बना लेते हैं इसलिये कि मैं अर्थहीन हूँ। यदि मेरे पास धन होता तो सब लोग मेरा सम्मान करते, मेरी आज्ञा का पालन करते, मेरी वस्तु को लेने का साहस न करते। सब अनर्थों की जड़ अर्थ का न होना ही है। अतः वह भगवान् से और किसी की याचना न करके अर्थ की याचना करता है। उसे भगवान् तो प्रिय हैं ही साथ ही अर्थ भी प्रिय है। आर्त को भी संसारी सुख और भगवान् प्रिय थे। इस प्रकार इनकी प्रियता दो स्थानों में बंट गयी वे एक भक्ति वाले न होकर दो में भक्ति करने वाले हुए।

अब रहे जिज्ञासु। जिज्ञासु यद्यपि संसारी भोगों से ऊबकर एकमात्र भगवान् के ही सम्बन्ध में जिज्ञासा रखता है। न तो वह भगवान् से अर्थ चाहता है और न दुःखों को मेंटने की ही प्रार्थना करता है, वह तो यही चाहता है, मै इस संसार बन्धन से कैसे छूटूं। अपने को संसार में बंधा हुआ अनुभव करता है। बंधा हुआ अनुभव न करता तो मोक्ष की जिज्ञासा ही क्यों करता? फिर भी आर्त और अर्थार्थी से श्रेष्ठ है, क्योंकि इसका मन एक ओर लगा है, वह संसारी भोग न चाह कर भगवान् को ही चाहता है। फिर भी है, तो कच्चा ही, जिज्ञासा करते-करते सम्भव है अर्थ की कामना हो जाय या दुःख मे घबरा कर आर्त होकर–भगवान् से दुःख निवृत्ति के लिये प्रार्थना करने लगे। यदि ऐसा हो गया तो वह विशुद्ध जिज्ञासु भक्त न रहकर आर्त अथवा अर्थार्थी भी हो सकता है। अतः यह एकभक्ति वाला अनन्य भक्त है, इसमें संदेह है। इसका मन आधा तो संसार की ओर फँसा है और पूरा भगवान् की ओर इसलिये इसका प्रेम दो स्थानों में न बँटकर डेढ़ स्थानों में बंटा हुआ है। यद्यपि अभी इसे कोई संसारी कामना नहीं, किन्तु जब तक पूर्णज्ञानी न बन जाय तब तक कामना हो जाने की सम्भावना है। वैसे इस समय यह आर्त और अर्थार्थी से एक सीढ़ी ऊपर है। क्योंकि आर्त और अर्थार्थी दोनों ही जब तक जिज्ञासु न बनेंगे तब तक ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी पर नहीं चढ़ेंगे। अतः तारतम्य लगाना ही हो तो यों लगाइये। आर्त की अपेक्षा अर्थार्थी श्रेष्ठ है। क्योंकि आर्त को तो जो भी कष्ट होता है, उसी के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है, किन्तु अर्थार्थी एक अर्थ की कामना करता है, क्योंकि वह जानता है "सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति।" जग में सबते बड़ो रुपैया, नहिं भैया नहिं मैया" और अर्थार्थी से बड़ा

जिज्ञासु है। क्योंकि जिज्ञासु संसारी सम्बन्धों से संसारी भोगों से, संसारी दुःखों से ही ऊवकर तो परमार्थ की जिज्ञासा करने लगा है। कोई पूर्वजन्म का संयोग संस्कार जाग उठे और उसके मनमें पुनः कामना उत्पन्न हो जाय, यह दूसरी बात है। कामना उत्पन्न होने पर भी उसका जिज्ञासुपन नष्ट नहीं होने का। जैसे अजामिल के मनमें शान्त दान्त सदाचारी होने पर भी वेश्या के प्रति कामना उत्पन्न हो गयी। प्रारब्ध संस्कार समाप्त होने पर उसे साधु संग हुआ पुत्र का नाम नारायण रखा। पुत्र के नाम के मिस से भगवन्नाम उच्चारण के प्रभाव से उसे विष्णु दूतों का दर्शन हुआ, उसकी जिज्ञासा पुनः जागृत हुई, वह सर्वस्व त्याग कर जिज्ञासु होकर हरिद्वार चला गया, वहाँ योग का अभ्यास करने से उसकी बुद्धि त्रिगुणमयी प्रकृति से ऊपर उठकर भगवान् के स्वरूप में स्थित हो गयी। वह जिज्ञासु से ज्ञानी बन गया और भगवत् पार्षदों के साथ लक्ष्मीपति भगवान् के निवास स्थान वैकुण्ठ को चला गया।

इससे सिद्ध यही हुआ कि आर्त और अर्थार्थी से बढ़कर जिज्ञासु है, क्योंकि दोनों को आगे पीछे जिज्ञासु बनना ही पड़ेगा। किन्तु आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु इन तीनो से ही श्रेष्ठ ज्ञानी भक्त है, क्योंकि ज्ञानी को न तो कोई आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक आर्ति ही रह गयी है, न उसे इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी, किसी अर्थ की ही अपेक्षा है। वह ब्रह्मलोक पर्यन्त भोगों को तुच्छ समझता है। उसकी तो एकमात्र भक्ति भगवान् में ही रह गयी है। वह अनन्य भक्त बन गया है। उसे भगवान् के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उसकी सब स्थानों से ममता सिमिट कर एकमात्र भगवान् में ही हो गयी है। उसके रोम-रोम में भगवान् समा गये हैं। भगवान्

उनके प्राणाधार बन गये हैं। उनके प्रियतम सर्वस्व श्यामसुन्दर ही हो गये हैं। जो भगवान् से इतना अधिक स्नेह करेगा, उससे भगवान् भी सबसे अधिक प्रेम करेंगे। अतः ऐसा ज्ञानी भक्त भगवान् को भी प्राणों से भी अधिक प्यारा लगता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा, कि महाराज यः; सत्य है, कि आपको आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चारों ही भक्त प्रिय हैं, फिर भी इनमें कुछ उन्नीस बीस का अन्तर होगा ही, तब भगवान् ने कहा— अर्जुन! इन चारों में से ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है, वह मुझे औरों की अपेक्षा अधिक प्यारा है।"

अर्जुन ने पूछा—ज्ञानी भक्त में ऐसी क्या विशेषता है महाराज!

भगवान् ने कहा—वह सदा सर्वदा मुझ में ही मिला रहता है। मेरी ही धारणा करता है, मेरा ही ध्यान करता है और मेरे ही लिये समाधिमग्न बना रहता है। उसका मन मेरे में ही लगा रहता है।

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी भी तो एकनिष्ठ होकर आप की ही पुकार करते हैं। उनकी भी तो केवल आप पर ही निष्ठा होती है।"

भगवान् ने कहा—वे भी मुझमें ही युक्त रहते हैं, सच्चे मन से मेरी ही पुकार करते हैं किन्तु उनकी भक्ति दुःख निवारण तथा अर्थ और जिज्ञासा में भी तो बँटी रहती है। ज्ञानी तो एकमात्र मुझे ही सब कुछ समझता है अतः एक भक्ति होने के कारण इन तीनों से वशिष्ट है, उत्तम है, श्रेष्ठ है।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! एक भक्ति हो, या दो भक्ति, भक्ति तो आप में सब की है ही।

भगवान् ने कहा—"तुम ठीक कहते हो, भक्ति तो सब की न होती तो सब की भक्ति संज्ञा ही क्यों होती? किन्तु किसी मिठाई में मीठा अधिक रहने से वह अधिक मीठी मिठाई कहलाती है, किसी में कम मीठा होने से कम मीठी कहलाती है। इसी प्रकार उन ज्ञानी भक्तों में मेरे प्रति प्रियत्व अधिक है। उनका सब प्रेम मुझी में लगा रहता है। वे सोलहू आने पूरा प्रेम मुझसे करते हैं।"

अर्जुन ने कहा—वे चाहें सोलह आने करें चाहें आठ आने। आपको तो सबसे बराबर प्रेम करना चाहिये। माता-पिता के लिये सभी सन्तानें समान होती हैं, चाहें वे उनसे न्यून स्नेह करें या अधिक।

भगवान् ने कहा—नहीं, ऐसी बात नहीं है। गुण के कारण स्नेह भी न्यून और अधिक होता है। मेरी तो प्रतिज्ञा है, जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसको उसी भाव से भजता हूँ। जब ज्ञानी भक्त अपना सर्वस्व त्याग कर पशु, पत्नी, घर, पुत्र, परिवार, प्रियजन, धन, प्राण, इसलोक तथा परलोक सभी की ममता छोड़कर एक मात्र मुझे ही पूर्णरीत्या अपना प्रियतम परम प्रेष्ठ समझता है। मुझसे ही पूर्णरीत्या प्रेम करता है, तो मैं भी उससे पूर्णरीत्या प्रेम करता हूँ। वह भी मुझे सबसे अधिक प्रिय है। यदि मै ऐसा न करूं तो मुझमें कृतघ्नीपने का दोष आ जायगा।

अर्जुन ने कहा—तब तो भगवन्! ऐसा लगता है, कि आप ज्ञानियों में ही अत्यधिक स्नेह करते हैं। उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं।"

हँसकर भगवान् बोले—नहीं, भाई, ऐसी बात नहीं है। ये चारों ही प्रकार के भक्त श्रेष्ठ हैं, उदार हैं। देखो, उदार न होते

तो ये संसार की आशा छोड़कर एकमात्र मेरी ही शरण में क्यों आते । अतः जैसे राजा को पुत्र, पौत्र, भाई बन्धु सभी प्यारे हैं, सभी का भरण पोषण करते हैं, सभी का दुःख-सुख पूछते हैं, सभी की खोज खबर लेते हैं, किन्तु पत्नी तो उनकी अर्धाङ्गिनी ही है । उससे जैसी अनन्यता का सम्बन्ध है वैसा किसी दूसरे प्रिय से प्रियतम से भी नहीं हो सकता । पत्नी तो उसका आधा अंग है, उसी का स्वरूप है । वह उसका पूर्णरीत्या उपभोग करता है, वह भी उसका पूर्णरीत्या उपभोग करती है । इसी प्रकार ज्ञानी भक्त तो मेरा आत्मा ही है । उसमें और अपने में मैं कोई भेद-भाव नहीं मानता । क्योंकि उसका चित्त पूर्णरीत्या मुझमें ही समाहित है । और वे मुझे ही अपनी सर्वश्रेष्ट गति समझते हैं मुझमें ही मति लगाये रहते हैं, मुझसे ही रति करते हैं । अतः वे मुझे ही गति, मति, रति और सब कुछ समझते हैं । वे मेरे अतिरिक्त न कोई दूसरा फल चाहते हैं न अन्य कोई गति ही । इसलिये औरों की अपेक्षा वे मुझे विशेष प्रिय हैं ।

अर्जुन ने पूछा—आपका यह ज्ञानी भक्त ऐसा अनन्य कैसे हो गया ? इसकी ऐसी सुदृढ़ एकनिष्ठ मति किस साधन से हो गयी ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो उत्तर भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।

छप्पय

वैसे सबहिँ उदार रखें नहिँ जगतें आसा ।
इष्ट-पूर्ति हित जाइँ नहीं धनिकनि के पासा ॥
ज्ञानी तोऊ कह्यो रूप मेरो ही भाई ।
ग्वाने तन मन बुद्धि मोइ मैं सतत लगाई ॥
अति उत्तम मेरी कही, गति अनुत्तमा अति सुखद ।
युक्तात्मा तामें रमत, है यह मेरो मत विपद ॥

सर्वत्र वासुदेव को देखने वाला महात्मा दुर्लभ है

[१०]

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

चौरासी को चक्र भ्रमैं जामें सब प्रानी ।
बहु जन्मनि के अन्त मोइ पावै नर ज्ञानी ॥
भेद भाव नहिं रहै भाव सबमें सम मानें ।
वासुदेव ई बसत सवहिं थल ऐसो जानें ॥
वासुदेव सबकूँ समुझि, भजें भेद भ्रम भगि गये ।
ज्ञानी योग्य महातमा, जगमें अति दुरलभ भये ॥

---

* बहुत जन्मों के पश्चात् ज्ञानवान् पुरुष जो सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मुझे भजता है, ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥१९॥

अपनी प्रकृति से प्रेरित हुए प्राणी, भिन्न-भिन्न भोगों की भावना से जिनका ज्ञान हर लिया गया है वे लोग, उन-उन नियमों को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं ॥२०॥

दो प्रकार के जीव होते हैं, एक ऊर्ध्वगामी दूसरे अधःगामी। अधः गामी जीव वे होते हैं, जिन्हें पाप कर्म पाप दिखायी ही नहीं देता। दिन भर सहस्रों मछलियों को पशु-पक्षियों को मारने पर भी जिन्हें तनिक भी ग्लानि नहीं होती, अपितु हर्ष ही होता है, आज मैंने इतना पैसा पैदा कर लिया। सहस्रों अबलाओं, विधवाओं कुमारी कन्याओं तथा परदाराओं का बलात् शीलभंग करने पर—उनका सतीत्व नष्ट करने पर जिन्हें रंचक भी क्षोभ नहीं होता, परधन अपहरण करके जो प्रसन्न होते हैं उल्लास में भर जाते हैं, ऐसे हिंसक, चोर, जार, लबार प्राणी अधः गामी हैं। वे मरकर घोर नरकों में जायंगे, वहाँ सहस्रों लाखों वर्षों तक नरकों की यातना भोगने के अनन्तर कुछ पाप शेष रहने पर यहाँ पृथ्वी पर कुत्ता, बिल्ली, कीड़े मकोड़े चील, गीध, गीदड़ आदि पाप योनियों में उत्पन्न होंगे और पाप कर्मों में निरत होंगे!

दूसरे ऊर्ध्वगामी जीव होते हैं, जिनकी स्वाभाविकी रुचि, सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र चिंतन, ज्ञान, वैराग्य, विनय, शील, साहस, उत्साह, आस्तिकता तथा निरहङ्कार आदि सद्गुणों में होती है। जिनका स्वभाव ही जीवों का उपकार करने का होता है, दुखियों को देखकर जिनके मन में अपने आप दया उत्पन्न होती है। ऐसे सज्जन पुरुष सदा सत्कर्मों में ही लगे रहते है। दान धर्म, परोपकारादि कर्मों को वे अपने स्वभाव के अनुसार बिना सिखाये ही करते रहते हैं। जो थोड़ा-थोड़ा ही क्यों न सही, परोपकार करते ही रहते थे। समय बचाकर कुछ ही क्षण सही धर्म चर्चा सत्संग करते हैं। उनके वे थोड़े-थोड़े सत्कर्म भी उन्हें पतन से बचाते रहते हैं। उनका अधःपतन नहीं

होता, वे नीचे नहीं गिरते। शनैः-शनैः ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं। एक जन्म की अपेक्षा दूसरे जन्म में दूसरे जन्म की अपेक्षा तीसरे जन्म में बढ़ते ही जाते हैं, जैसे मैत्रेय मुनि भगवान् व्यासजी की कृपा से कीड़े से बढ़ते-बढ़ते ब्रह्मर्षि हो गये। उत्तरोत्तर उनके सद्गुण बढ़ते ही गये और एक की अपेक्षा दूसरी और दूसरी की अपेक्षा तीसरी इस प्रकार क्रम-क्रम से उच्चयोनियों में जन्म लेते-लेते अन्त में परमज्ञानी मैत्रेय मुनि हो गये।

इस प्रकार प्रत्येक जन्म में थोड़ा-थोड़ा पुण्य करने से प्राणी उन्नति के शिखर तक पहुँच जाता है। यों वास्तव में देखा जाय, तो प्राणी अपने अल्प पुण्यों से, क्षुद्र सत्कर्मों से उन गुणार्णव गुणों की खान प्रभु को रिझा ही कैसे सकता है? फिर भी, सत्कर्मों का—पुण्य कार्यों का—फल सुन्दर ही होता है। सत्कर्म करते-करते किसी भी जन्म में भगवान् का ज्ञान हो जायगा। वह ज्ञानी पुरुष अन्त में भगवान् को प्राप्त कर सकेगा। इससे प्रभु प्राप्ति की इच्छा वाले साधक को सदा सर्वदा सद्कर्मों में लगे रहना चाहिये। सद्गुणों को प्राप्त करने का—उनकी वृद्धि का—सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। सत्कर्मों के करते-करते सब में समता की बुद्धि हो जायगी। जहाँ सब में भगवान् दिखायी देने लगे। वहीं समझो बेड़ा पार है। सबमें समता हो जाना यह पूर्व जन्मकृत पुण्यों का ही परम फल है।

एक बालक था, उसकी माता ने कहा—"बेटा! मुझे औषधि के लिये अमुक वृक्ष की छाल ला दे।"

माता की आज्ञा से बालक कुल्हाड़ी लेकर पेड़ के समीप गया और कुल्हाड़ी से छाल उतार कर ले आया, अपनी माता को उसे दे दिया।

उसके कुछ दिन पश्चात् माता ने देखा, उसका लड़का

कुल्हाड़ी मे अपने पैर की खाल उतार रहा है। माता ने कहा—"अरे, बेटा! यह क्या कर रहा है, कहीं पैर को काटकर उसकी खाल उधेड़ते हैं? इससे घाव हो जायगा, पैर पक जायगा।"

बालक ने कहा—"माँ तुमने उस दिन अमुक पेड़ की खाल उतारने मुझे भेजा था, मैं अपने पैर की खाल उतारकर यह देख रहा हूँ, कि खाल उतारने से पेड को कितना कष्ट हुआ होगा?"

यह सुनकर माता आश्चर्य चकित रह गयी। पेड़ के कष्ट को अनुभव करने को अपनी खाल उतारना यह कितनी भारी समता है। माता ने कहा—"बेटा! आगे चलकर तू बडा भारी संत होगा। बालकपन से ही तेरी वृक्ष में और मनुष्य में समबुद्धि है।" ये ही बालक आगे चलकर के बड़े भारी महात्मा हुए। ऐसी समता एक जन्म के शुभ संस्कारों से नहीं होती, अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों से होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह पूछा कि ज्ञानी किस साधन से ऐसे संस्कारों वाला बनता है, तब भगवान् ने कहा—अर्जुन! ज्ञान एक जन्म के संस्कार से नहीं होता है। अनेक जन्मों के पुण्यों का संचय होते-होते ज्ञान की प्राप्ति होती है। बहुत जन्मों के पश्चात् मुमुक्षु को ज्ञान लाभ होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर भी जो भक्त हो जाय, मेरा भजन करने वाला हो जाय, तब तो वह मेरा प्रपन्न भक्त मेरा अत्यन्त ही प्रिय पात्र बन जाता है।

अर्जुन ने पूछा—"जो आपका प्रपन्न ज्ञानवान् भक्त है, उसके लक्षण क्या हैं?"

भगवान् ने कहा—"उस मेरे प्रपन्न भक्त की दृष्टि वासुदेवमय

बन जाती है। वह चर में अचर में सबमें वासुदेव को ही देखता है। उसे मुझ वासुदेव के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं देता है।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसे सर्वत्र वासुदेव को ही देखने वाले-वासुदेवमयी दृष्टि वाले-आपके प्रपन्न ज्ञानी भक्त बहुत से होंगे?

भगवान् ने कहा—"कैसी बात करते हो अर्जुन! जिनको वासुदेव के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं देता, ऐसे महात्मा ज्ञानी भक्त संसार में बड़े दुर्लभ है। उनके दर्शन तो किसी भाग्यशाली को ही हुआ करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! एक बात मुझे पूछनी है। आपके आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चार भक्तों में से ज्ञानी भक्त तो दुर्लभ हैं, किन्तु शेष तीन कैसे हैं?"

भगवान् ने कहा—भाई, बारबार तो बता चुके ये तीनों भी भक्त हैं, श्रेष्ठ हैं उदार है तथा सुकृति है, क्योंकि वे मेरा ही तो भजन करते हैं, किसी दूसरे का तो नहीं।

अर्जुन ने पूछा—अच्छा भगवन्! जो आपका भजन न करके दुःख नाश के लिये या अर्थ प्राप्ति के लिये अन्य, दूसरे देवताओं का भजन करते हैं उनमें और आपके आर्त तथा अर्थार्थी भक्तों में क्या अन्तर है? इनमें कौन श्रेष्ठ है?

भगवान् ने कहा—उनमें मेरे ही आर्त तथा अर्थार्थी भक्त श्रेष्ठ हैं।

अर्जुन ने कहा—जब यही बात है तो और आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी आपके सभी भक्त आपकी भक्ति का आश्रय लेकर अनायास ही संसार सागर को तर जाते हैं, मोक्ष मार्ग के अधिकारी बन जाते हैं, तो फिर प्राणी आपका ही भजन न करके अन्य क्षुद्र भूत पिचासादि देवताओं की उपासना

क्यों करते है ? अपनी इष्टसिद्धि के निमित्ति आपका ही भजन न करके अन्य क्षुद्र देवों की शरण में क्यों जाते है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! वे अपनी पूर्ववासना के वशीभूत होकर ऐसा करते हैं। उनके मन में बड़ी-बड़ी कामनाएँ उठती हैं। वे उन कामनाओं की प्राप्ति के लिये मेरी शरण में न आकर क्षुद्र देवताओं की शरण में जाते है। वे अन्य देव मोक्ष देने में तो असमर्थ हैं। ये सकामी भक्त समझते हैं, अन्य देवताओं के यहाँ हमारा कार्य शीघ्र से शीघ्र सिद्ध हो जायगा। उन कामनाओं की प्रबलता के कारण उनका अन्तःकरण क्षुद्र बन जाता है। उन कामनाओं के वशीभूत होकर वे लोग अपनी प्रकृति के अधीन होकर, जो उन्हें जैसा नियम बता देता है, उस नियम का आश्रय लेकर मेरा भजन न करके अन्य देवताओं का ही स्वार्थ सिद्धि के निमित्त भजन करते है।

अर्जुन ने पूछा—दूसरे देवताओं की स्वार्थ सिद्धि के निमित्त जो श्रद्धा भक्ति से पूजा करते हैं, उनका फल क्या होता है ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इसका उत्तर जो भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

पूरे ज्ञानी नहीं भोग की इच्छा मन में।
भोग कामना भिन्न उठें जगके विषयन में॥
हरयो गयो तिनि ज्ञान कामना सिद्ध होन हित।
निज स्वभाव अनुसार भ्रमत नित प्रति वे इत उत॥
भिन्न-भिन्न देवनि शरन, जायें पूजा तिनि करें।
होहि कामना सिद्धि जस, धारन उन नियमनि करें॥

सकामी अन्य देवों के उपासकों की कामना भी भगवान् ही पूरी करते हैं

[११]

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥*

(श्री० भग० गी० ७ अ० २१, २२ श्लोक)

छप्पय

जिनि-जिनि देवनि पूजि प्रेम तैं शीश नवावैं ।
जिनकूँ अपनो इष्ट समुझि हिरदे में लावैं ॥
श्रद्धा जिनि प्रति करैं गन्ध फल फूल चढ़ावैं ।
इनही तैं मम होहि कामना सिद्ध बतावैं ॥
भक्त भावना के सरिस, हौं हू तस भावहिँ भरूँ ।
श्रद्धा जाकी होहि जस, ताई में इस्थिर करूँ ॥

---

* जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप का श्रद्धा से अर्चन करना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर कर देता हूँ ॥२१॥

यह सम्पूर्ण जगत् वासुदेवमय है। भगवान् वासुदेव ही अनेक रूपों में क्रीडा कर रहे हैं रमण कर रहे हैं। सबको घुमा रहे हैं, सबको नचा रहे हैं। जिन्होंने इस रहस्य को समझ लिया है, इस ज्ञान का पूर्णरीत्या साक्षात्कार कर लिया है, फिर वह संसारी मोह में नहीं पड़ता। यह विश्वास हो जाय, कि एक ही देव विविध प्राणियों के रूप में वर्त रहे हैं। फलों के दाता वे ही हैं और भोक्ता भी वे ही हैं और भोज्य पदार्थ भी वे ही हैं ऐसा ज्ञान हो जाय, तो उस ज्ञानी भक्त का तो संसार चक्र सदा के लिये छूट ही जायगा। भगवान् ने उच्च तथा नीच नाना भाँति की योनियाँ बनायीं हैं, उन सब में तारतम्य रूप से अपनी शक्ति का भी संचार उन्होने किया है। पाषाण आदि जड़ कहलाने वालों में ज्ञान शक्ति अत्यल्प है, कीड़े मकोड़ों में उससे अधिक इसी प्रकार देवता, यक्ष, गन्धर्व, गुह्यक आदि, देव योनियों में मनुष्यादि से भी अधिक सामर्थ्य है। पूर्वजन्म की विविध वासनाओं के वशीभूत होकर प्राणी इस बात को भूल जाता है, कि समस्त सिद्धियों के एकमात्र स्रोत श्रीहरि ही हैं। देवताओं में भी वे ही शक्ति का संचार करते हैं। देवताओ द्वारा भी जो सिद्धि प्रदान की जाती है, उसे भी भगवान् ही देते हैं क्योंकि समस्त शक्ति के आदि स्रोत तो श्याम सुन्दर ही है। छोटी सिद्धि चाहने वाले छोटे देवताओं की उपासना से उन छोटी कामनाओं को प्राप्त करते हैं। पूर्व जन्म की वासनायें जब इस जन्म में उदित होती हैं, तब साधारण श्रणी के लोग मारण, मोहन,

---

वह भक्त उसी श्रद्धा से युक्त होकर उसके आराधन में तत्पर रहता है और उसी देवता से ही मेरे द्वारा विधान किये हुए इच्छित भोगों को प्राप्त करता है ॥२२॥

उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन तथा आकर्षणादि सिद्धियों की कामना होने के कारण, उन-उन सिद्धियों के लिये प्रयत्न करते हैं। वे सर्वान्तर्यामी जगदाधार सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव की उपासना तो करते नहीं। यदि इन सिद्धियों के निमित्त ही अन्य क्षुद्र देवों की शरण में न जाकर भगवान् की ही शरण में जाते, तो वे भगवान् के अर्थार्थी भक्त कहलाते, किन्तु उनका हृदय विशाल न होने से–क्षुद्र हृदय होने के कारण–वे अपनी इष्टसिद्धि के लिये अन्य देवताओं का ही आश्रय ग्रहण करते हैं। उनके अन्तःकरण में उन कामनाओं की सिद्धि के लिये अत्यन्त आसक्ति हो जाती है, वे चाहते हैं, यह सिद्धि मुझे शीघ्राति शीघ्र मिल जाय, इसलिये वैसे ही लोग उन्हें विविध सिद्धियों का शीघ्राति शीघ्र लाभ पहुँचाने के लोभ से अन्य देवों की पूजा करने का उपदेश देते हैं। उन कामनाओं की अत्यन्त आसक्ति के कारण वह, अन्य देवताओं की उपासना में श्रद्धा भक्ति तथा लगन के साथ निरत हो जाता है। भगवान् न तो उनकी श्रद्धा को विफल होने देते हैं, और न उनकी लगन के साथ किये हुए परिश्रम को ही निष्फल होने देते हैं। वे जिस-जिस संसारी क्षुद्र कामना से जिस-जिस देवता की उपासना करते हैं, उसी देवता के द्वारा उनकी कामनाओं की पूर्ति करा देते हैं। जैसा देवता होगा वैसा ही फल देगा। बहुत से लोग कर्ण पिचास को सिद्ध कर लेते हैं। दूसरे लोगों की बातों को कर्ण पिसाच उसके कान में आकर कह जाता है। इसी प्रकार क्षुद्र देवताओं से क्षुद्र सिद्धियाँ ही मिलती हैं और वे भी भगवान् की ही कृपा से उन देवताओं द्वारा प्राप्त होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा–अन्य देवताओं को उपासना करने वालों को क्या सिद्धियाँ नहीं मिलतीं?

तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! पूर्व वासनाओं के वशीभूत होने से हृदय में बहुत-सी सांसारिक कामनायें उत्पन्न हो जाती हैं। उन बहुत-सी कामनाओं के कारण अन्तःकरण उन्हीं के अनुसार हो जाता है। उनकी प्रकृति ही ऐसी बन जाती है कि उन सिद्धियों के अतिरिक्त दूसरी बात उन्हें अच्छी ही नहीं लगती। अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अधीन हुए वे लोग जैसा किसी ने उन्हें उन सिद्धियों के प्राप्त करने के नियम बताये हों, उन नियमों का आश्रय लेकर उन्हीं देवताओं का निरन्तर भजन पूजन करते रहते हैं, उन्हीं के मंत्रों का जप अनुष्ठान करते रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"तब तो भगवन् ! वे लोग आपसे सदा के लिये विमुख ही हो जायँगे, क्योंकि वे आपका भजन तो करते नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, मैं तो सर्वान्तर्यामी हूँ। वे लोग जिस-जिस देवता का श्रद्धा के साथ भजन पूजन जप आदि करते हैं, मैं उन लोगों को उसी देवता विषयक श्रद्धा में आरूढ़ कर देता हूँ। मेरी ही शक्ति द्वारा वे उस देवता में श्रद्धा को स्थिर रखते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आप उसकी श्रद्धा उसी देवता में स्थिर क्यों कर देते हैं, अपनी ओर उसे क्यों नहीं लगाते ?"

भगवान् ने कहा—"भाई, मैं सर्वात्मा हूँ, जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं उसे उसी भाव से फल देता हूँ। उसकी देवता में श्रद्धा है तो मैं उसे देव भक्त ही बना देता हूँ, वह उसी देवता की आराधना में तत्पर हो जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर उसकी कामना उस देवता द्वारा पूरी होती है या नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"पूरी होती क्यों नहीं है, उसकी श्रद्धा

भक्ति से की हुई आराधना को मैं उसी देवता के द्वारा स्वीकृत करता हूँ और उसी के द्वारा उसकी कामनाओं की पूर्ति भी करता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"उन देवताओं के द्वारा जो आप उनकी कामनाओं की पूर्ति कराते हैं, उनमें और आप द्वारा जो पूर्ति की जाती है उनमें कुछ अन्तर है या नहीं ?'

भगवान् ने कहा—हाँ उनमें कुछ अन्तर होता है।

अर्जुन ने पूछा—"क्या अन्तर होता है।"

भगवान् ने कहा—देखो, वैसे तो मैं सर्वात्मा हूँ, सब मेरे ही द्वारा होता है, हो रहा है और होता रहेगा, किन्तु उपासक के विवेक, अविवेक, ज्ञान-अज्ञान, पात्रता और अपात्रता, क्षुद्रता और महत्ता के कारण फल में अन्तर पड़ जाता है। वर्षा का जल समान भाव से सर्वत्र गिरता है, किन्तु नदी में पड़ने से वह पेय हो जाता है, समुद्र में पड़ने से अपेय हो जाता है। महान् के द्वारा दी हुई वस्तु की महत्ता अधिक होती है, उसी को कोई क्षुद्र पुरुष दे-दे तो उसकी महत्ता न्यून हो जाती है।

अर्जुन ने पूछा—उन सकामी अन्य देवोपासकों को कैसे फल की प्राप्ति होती है और उनकी गति कैसी होती है ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है, आप सब इस पावन प्रसंग को समाहित चित्त से श्रवण करने की महती कृपा करेंगे।

छप्पय

निज श्रद्धा अनुसार पूजि देवहिँ सुख पावैँ।
जो मन इच्छा होहि तिनिहिँ कूँ जाइ सुनावैँ॥
तिनि की श्रद्धा नहीं करूँ हौं विचलित कबहूँ।
पूजैं यद्यपि भेद भाव तैं देउँ सुफल हूँ॥
मम विधान के ही सरिस, देवनि के ढिँग जाइँगे।
सुखी होहिँ श्रद्धालुजन, मनवांछित फल पाइँगे॥

देवों के भक्त देवों को और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं

[१२]

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥*

(श्रीगभ० गी० ७अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

देवनि श्रद्धा सहित पूजिकें का फल पायौ ।
नाशवान ये भोग इनहिँ में चित्त लगायौ ॥
अल्पबुद्धि के पुरुष भोग हित देवनि पूजें ।
मोकूँ यह फल मिले रात दिन तामें जूझें ॥
देवनि के पूजक सबहिँ, देवनि कूँ ही पाइँगे ।
जो हैं मेरे भक्त सो, प्राप्त मोइ है जाइँगे ॥

---

* उन अल्प बुद्धिवालों का फल नाशवान् है । देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

मुझ अव्यक्त को बुद्धिहीन पुरुष, व्यक्ति की भाँति मानते हैं, वास्तव में मैं अविनाशी हूँ, वे मेरे परम भाव को तत्व से नहीं जानते ॥२४॥

जितना बड़ा पात्र होगा, उसमें पानी भी उतना ही आवेगा, उसे चाहें गङ्गाजी में डुबोओ, समुद्र में डुबोओ अथवा तालाव, वापी, कूप में डुबोओ। सर्वत्र समान ही जल आवेगा। इसी प्रकार जिसका जितना बड़ा हृदय होगा, उसके इष्ट भी वैसे ही होंगे। जो लोग आहार, निद्रा मैथुनादि ग्राम्य सुखों को ही सब कुछ समझते हैं, वे अपने इष्टों से भी इन्हीं वस्तुओं की याचना करते हैं। "हे देव! हमारा शरीर सुखी रहे, बहुत दिन जीते रहें, विवाह हो जाय, बच्चे हो जायँ, बच्चों का भी विवाह हो जाय, उनके भी बच्चे हो जायँ, दूध पूत से घर भरा रहे। हमारे शत्रुओं का नाश हो जाय। रोटी कपड़ा की कभी कमी न हो।" इन्हीं संसारी वस्तुओं की याचना करते रहते हैं। स्त्री कहती है—जन्म जन्मान्तरों में मुझे बराबर ये ही पति मिलते रहें, पति कहता है, मुझे सदा यही पत्नी मिलती रहे। कोई बहुत बड़े हृदय के हुए तो इन्हीं आहार मैथुनादि भोगों को ही दिव्य रूप में चाहते हैं। हमें उपभोग को स्वर्ग की अप्सरायें मिलें। चढ़ने को बैल गाड़ी, घोड़ा गाड़ी नहीं। स्वर्गीय दिव्य विमान मिले। पीने को दूध नहीं दिव्य अमृत तथा सुधा मिले।

भोग्य पदार्थ चाहें इस मर्त्यलोक के हों चाहे स्वर्गलोक के सभी अन्तवन्त हैं, नाशवान् हैं, क्षयिष्णु हैं। प्राणी इन नाशवान क्षयिष्णु भोगों के पीछे सदा पागल बना रहता है। इतना बुद्धिमान् ज्ञानवान् मनुष्य, अविनाशी भगवान् को न चाहकर नाशवान् भोगों को ही चाहता है। क्यों चाहता है? इसलिये कि उसकी बुद्धि रूप पात्र छोटा है। अल्प है। अल्प बुद्धि वाले-मन्द बुद्धि वाले-जीव उस अविनाशी सच्चिदानन्द अव्यक्त ब्रह्म को धारण करने में सर्वथा असमर्थ हैं, अतः अन्य अल्प देवों की उपासना करते हैं। वे अल्प वस्तु ही दे सकते हैं। —[illegible]

एक महात्मा थे, वे शौच से बचे जल को एक शमी (छोंकरा) के वृक्ष पर डाल दिया करते थे। उस वृक्ष पर एक भूत रहता था। भूत प्रेत पाप योनियाँ हैं, किन्तु स्थूल शरीर की न होकर सूक्ष्म शरीर की होती है। शीघ्र गमन तथा पर मन की बात जानने की उनमें शक्ति होती हैं। इसीलिये साधारण लोग भूत प्रेतों को सिद्ध करके संसारी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। इन पाप योनि के भूत प्रेतों का आहार भी विष्टा मूत्र, शौच से अवशिष्ठ जल आदि अशुद्ध वस्तुओं का ही होता है। इन्हें भी प्राप्त करके ये प्रसन्न होते हैं। मांस, मदिरा, शव की वस्तुएँ ये ही इन्हें प्रिय हैं।

हाँ तो, नित्य शौचोच्छष्ट जल पाकर उस पेड़ पर रहनेवाला भूत उन महात्मा पर प्रसन्न हो गया। एक दिन प्रत्यक्ष प्रकट हो कर उसने कहा—"महात्मन् ! आप पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ, आप मुझसे कोई वर माँग लीजिये।"

महात्मा ने कहा—"भाई, हमें संसारी किसी वस्तु की तो आवश्यकता नहीं। हमें तो भगवान् राघवेन्द्र कौशल किशोर के दर्शनों की अभिलाषा है। तुम करा सकते हो, तो हमें भगवान् के दर्शन करा दो।"

भूत ने कहा—"महात्मन् ! यह प्रेत योनि पापयोनि है, अधम योनि है। हममें इतनी ही सामर्थ्य होती, तो हम इस अधम योनि में अब तक क्यों पड़े रहते। इसीलिये भगवत् दर्शन कराना तो हमारी शक्ति के बाहर की बात है। हाँ हम आपको एक उपाय बता सकते हैं।"

महात्मा ने कहा—"उपाय ही बता दो। उसी उपाय को करेंगे।"

भूत ने कहा—अमुक स्थान पर जो राम कथा नित्य होती

है, उसमें वेष बदल कर नित्य नियम से श्री हनुमान् जी आते हैं। क्योंकि हनुमान् जी ने भगवान् श्री कौशल किशोर राघवेन्द्र प्रभु से यह वरदान प्राप्त कर रखा है, जहाँ-जहाँ भी पृथ्वी भर में राम कथा होती हो, वहाँ-वहाँ में उतने ही रूप रखकर कथा श्रवण कर सकूँ। सो, इस कथा में वे कुष्टी के रूप में आकर कथा सुनते है। आप उनकी शरण में जाओ, तो वे आपको भगवद् दर्शन करा सकते हैं।

महात्मा ने पूछा—कथा में यदि कई कुष्टी हुए तो हनुमान् जी की पहिचान क्या है ?

भूत ने कहा—"जो कोढ़ी हाथ जोड़े, प्रेम भरित हृदय से, नेत्रों द्वारा प्रेमाश्रु बहाते हुए तन्मय होकर कथा सुन रहा हो, समझ लें वे ही श्री हनुमान् जी हैं।"

भूत द्वारा हनुमान् जी का पता पाकर वे महात्मा उनके शरणापन्न हुए और हनुमान् जी की कृपा से उन्हें भगवत् साक्षात्कार हुआ। इस प्रकार भूतप्रेतादि भी प्रसन्न होकर कुछ परमार्थ पथ का उपाय बता सकते हैं यदि वे सौम्य हुए तो। वैसे ऐसी योनियाँ क्षुद्र होती हैं और क्षुद्र ही पदार्थों को दे भी सकती है।

एक संसारी पुरुष था। उसे एक अच्छा घोडा पाने की अभिलाषा थी। इसी कामना से उसने शीतला देवी की श्रद्धा भक्ति से उपासना की। शीतला देवी उसको भक्ति से प्रसन्न हुईं। प्रकट होकर वर माँगने को कहा। उसने कहा—"महारानी जी! मुझे एक घोड़ा दे दीजिये।"

शीतला देवी ने कहा—"भैया, मैं स्वयं तो गधे पर चढ़ती हूँ (शीतला देवी का वाहन गधा ही है।) जब मैं स्वयं ही गधे पर

चढ़ती हूँ। तो तुझे घोड़ा कहाँ से दूँ? कोई और ऐसी वस्तु माँग जिसे मैं दे सकूँ।"

कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि इन देवों की शक्ति परिमित होती है, उनके पूजकों को भी परिमित ही फल मिलता है। भगवान् की शक्ति अपरिमित है, अतः उनके भक्त चाहें आर्त हों, चाहें जिज्ञासु हों अथवा अर्थार्थी हों उन्हें फल भी अपरिमित मिलता है। ध्रुव जी ने राज्य पाने की इच्छा से तपस्या की, किन्तु उन्हें मिला ध्रुवलोक का राज्य। उपमन्यु ने दुग्ध की इच्छा से शिवाराधन किया, उन्हें पूरा क्षीर का सागर ही मिल गया और अजर अमर शरीर। श्रीकृष्ण ने एक पुत्र पाने की इच्छा से शिवाराधन किया था उन्हें मिले १६१०८० पुत्र। इसलिये सर्वश्रेष्ठ यही बात है, कि भगवान् की ही शरण लेनी चाहिये। इन संसारी भोगों की प्राप्ति के लिये जितना प्रबल प्रयत्न किया जाता है, रात्रि-रात्रि भर श्मशान में जागकर शव की छाती पर बैठकर चिता पर चावल पकाकर तथा और भी ऐसे ही अशुचि साधन करके जो क्षुद्र देवों की पूजा करते हैं, इतने ही परिश्रम से प्रभु उपासना की जाय तो संसार सागर से सदा के लिये पार हो जाय।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् के भक्तों के और अन्य देवों के भक्तों के फलों में क्या अन्तर होता है, यह प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—अर्जुन! अन्य क्षुद्र देवों के मन्दबुद्धि उपासकों को मन्द ही फल की प्राप्ति होती है। तथा महान् ब्रह्म के महान् उपासकों को महान् फल की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने पूछा—मन्द फल किसे कहते हैं?

भगवान् ने कहा—जो नाशवान फल हैं, वे सभी मन्द फल

कहलाते हैं। ब्रह्म के उपासकों को ही अविनाशी फल की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने पूछा—फिर वे लोग क्षुद्र देवताओं की उपासना करके क्षुद्र फलों की ही ओर क्यों बढ़ते हैं।

भगवान् ने कहा—तुम्हें कई बार तो बता चुके हैं। सद्वस्तु का विवेक न होने के कारण वे अन्य देवों की उपासना करके उतना ही नियमित फल पाते हैं। मेरे भक्त विवेक वैराग्य करके सबको छोड़कर मुझ महान् को ही भजते हैं इसमें पूर्व जन्म के संस्कार ही प्रधान कारण हैं। चक्की में जो अन्न डालोगे उसी अन्न का आटा निकलेगा। जिस देवता की उपासना करोगे उसी को प्राप्त होगे। भूत प्रेतों की उपासना करोगे तो अन्त में भूत प्रेत बनना पड़ेगा। पितरों की उपासना से पितर, देवताओं की उपासना से देवता, यक्षों की उपासना से यक्ष और गन्धर्वों की उपासना से गन्धर्व बनना पड़ेगा। जिस देवता का पूजन करना होता है, पहिले अंगन्यास करन्यास करके उसी का ध्यान करना पड़ता है, उसी का रूप बनना पड़ता है। उस देवता का मन्त्र ही उसकी मूर्ति है। मन्त्र में देवता, ऋषि और छन्द तीन बातें होती हैं। तब उसका विनियोग होता है। मन्त्र के ऋषि को सिर पर धारण करते है, छन्द को मुख में और देवता को हृदय में। जिस-जिस देवता को हृदय में धारण करोगे, उसी-उसी का रूप साधक को होना पड़ेगा।

अर्जुन ने पूछा—"आपके भक्तों की क्या गति होगी? वे किसे प्राप्त होंगे?"

भगवान् ने कहा—यही नियम मेरे भक्तों के सम्बन्ध में भी है। देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरी उपासना करने वाले मुझे प्राप्त होते हैं।

अर्जुन ने पूछा—उपासना में श्रम तो समान ही होता है और आपकी उपासना से फल क्षुद्र न होकर महान् होता है, तो आपकी ही उपासना करनी चाहिये।

भगवान् ने कहा—चाहिये तो अवश्य, किन्तु करें तब तो? वे बुद्धिहीन पुरुष तो मेरे यथार्थ रूप से ही परिचित नहीं। वास्तव में तो मैं अव्यक्त हूँ, व्यक्तित्व से रहित हूँ, वे मूढ़ मुझमें व्यक्तित्व का आरोप कर लेते हैं?

अर्जुन ने पूछा—आप अव्यक्त में वे व्यक्तित्व का आरोप क्यों कर लेते हैं।

भगवान् ने कहा—वे महानुबुद्धि वाले नहीं। क्षुद्रबुद्धि होने के कारण वे मुझमें भी क्षुद्रता सीमितपन का आरोप कर लेते हैं। वे मेरे परम भाव को नहीं जानते। वे यह नहीं जान सकते कि मैं ही अव्यक्त हूँ, मैं ही सबसे श्रेष्ठतम हूँ, मैं ही अविनाशी तथा सर्वोत्तम हूँ। इसे यदि वे जान जायँ, तो अपनी क्षुद्रता छोड़कर मुझ महान् की ही उपासना करने लगें।

अर्जुन ने पूछा—इन क्षुद्र बुद्धि मनुष्यों की आप सर्वान्तर्यामी अव्यक्त से व्यक्तरूप में प्रकट होने वाले भगवान् में मनुष्यबुद्धि क्यों हो जाती है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रश्न का उत्तर भगवान् आगे देंगे।

छप्पय

हौं नितई अव्यक्त अनुत्तम अज अविनासी।
सुखस्वरूप स्वच्छन्द सर्वप्रिय सुख की रासी॥
मूरख मोकूँ व्यक्त समुझिकें मानुष मानें।
मत इन्द्रिनि तैं करूँ काज ऐसो वे जानें॥
मन इन्द्रिन तैं परे हौं, नित्य सच्चिदानन्द घन।
नित्य अजन्मा एक रस, नहीं रूप रँग नहिं मरन॥

[इसके आगे की कथा अगले अंक में पढ़िये!]

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

(पंचम संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्ष का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ-शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३५६ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ३.४५ मात्र है, शीघ्र मँगाइये, नूतन संस्करण छप गया है। डाकव्यय अलग।

मतवाली मीरा

(पंचम संस्करण)

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा? उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है। ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढङ्ग से आलोचना की है, इसमें भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्व का मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई

के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन, बेटियों, माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते-पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढङ्ग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २.५० रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये रंगीन चित्र बड़ा ही कलापूर्ण है। डाकव्यय अलग।